जैन-सिद्धान्त-भास्कर

भाग ६ किरण ३

THE JAINA ANTIQUARY

VOL. V. No. III

Edited by

Dr. B. A. Saletore. M. A., Ph. D.
Prof. Hiralal Jain, M. A., LL. B.
Prof. A. N. Upadhye, M. A., D. Litt.
B. Kamata Prasad Jain, M. R. A. S.
Pt. K. Bhujabali Shastri, Vidyabhushana.

PUBLISHED AT
THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY
(JAINA SIDDHANTA BHAVANA)
ARRAH, BIHAR, INDIA.

DECEMBER, 1939.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

जैन-सिद्धान्त-भास्कर के नियम।

१ 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' हिन्दी त्रैमासिक पत्र है, जो वर्ष में जून, सितम्बर, दिसम्बर; और मार्च में चार भागों में प्रकाशित होता है।

२ 'जैन-एन्टीक्वेरी' के साथ इसका वार्षिक मूल्य देशके लिये ४) रुपये और विदेश के लिये डाक-व्यय लेकर ४॥) है, जो पेशगी लिया जाता है। १।) पहले भेज कर ही नमूने की कापी मंगाने में सुविधा होगी।

३ केवल साहित्यसंबन्धी या अन्य भद्र विज्ञापन ही प्रकाशनार्थ स्वीकृत होंगे। मैनेजर, 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' आरा को पत्र भेजकर दर का ठीक पता लगा सकते हैं मनीआर्डर के रुपये भी उन्हीं के पास भेजने होंगे।

४ पते में हेर-फेर की सूचना भी तुरन्त उन्हीं को देनी चाहिये।

५ प्रकाशित होने की तारीख से दो सप्ताह के भीतर यदि 'भास्कर' नहीं प्राप्त हो, तो इसकी सूचना जल्द आफिस को देनी चाहिये।

६ इस पत्र में अत्यन्त प्राचीनकाल से लेकर आधुनिक काल तक के जैन इतिहास, भूगोल, शिल्प, पुरातत्त्व, मूर्त्ति-विज्ञान, शिला-लेख, मुद्रा-विज्ञान, धर्म्म, साहित्य, दर्शन, प्रभृति से संबंध रखने वाले विषयों का ही समावेश रहेगा।

७ लेख, टिप्पणी, समालोचना—यह सभी सुन्दर और स्पष्ट लिपि में लिखकर सम्पादक, 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' आरा के पते से आने चाहिये। परिवर्त्तन के पत्र भी इसी पते से आने चाहिये।

८ किसी लेख, टिप्पणी आदि को पूर्णतः अथवा अंशतः स्वीकृत अथवा अस्वीकृत करने का अधिकार सम्पादकमण्डल को होगा।

९ अस्वीकृत लेख लेखकों के पास विना डाक-व्यय भेजे नहीं लौटाये जाते।

१० समालोचनार्थ प्रत्येक पुस्तक की दो प्रतियाँ 'भास्कर' आफिस, आरा के पते से भेजनी चाहिये।

११ इस पत्र के सम्पादक निम्न-लिखित सज्जन हैं जो अवैतनिक रूप से केवल जैन-धर्म के उन्नति और उत्थान के अभिप्राय से कार्य्य करते हैं :—

प्रोफेसर हीरालाल, एम.ए., एल.एल.बी.

प्रोफेसर ए. एन. उपाध्ये, एम. ए., डी. लिट्.

बाबू कामता प्रसाद, एम.आर.ए.एस.

पण्डित के. भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

जैन-पुरातत्त्व-सम्बन्धी त्रैमासिक पत्र

भाग ६ मार्गशीष किरण ३

सम्पादक

प्रोफेसर हीरालाल, एम. ए., एल.एल. बी.

प्रोफेसर ए० एन० उपाध्ये, एम.ए., डी. लिट्.

बाबू कामता प्रसाद, एम. आर. ए. एस.

पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण.

जैन-सिद्धान्त-भवन आरा-द्वारा प्रकाशित

भारत में ४) विदेश में ४॥) एक प्रति का १।)

विक्रम-सम्वत् १९९६

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

विषय-सूची

हिन्दी-विभाग—

पृष्ठ

१ द्रौपदी के पञ्चपतित्व पर विचार—[श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण ··· १३७
२ क्या पावागढ़ दिगम्बर तीर्थ है ? —[श्रीयुत अगरचन्द नाहटा, बीकानेर ··· १४७
३ अणुव्रत-रत्न-प्रदीप—[श्रीयुत प्रो० हीरालाल जैन, एम० ए०, एल० एल० बी० ··· १५५
४ श्रीनिर्वाणक्षेत्र गिरिनार—[श्रीयुत बा० कामता प्रसाद जैन, एम० आर० ए० एस० १७८
५ सार 'जैन एण्टीक्वेरी'—[,, ,, ,, ,, ,, ··· १९७
६ साहित्य-समालोचना—(१) समाधितन्त्र—[श्रीयुत हीरालाल जैन, एम० ए० ··· १९८
(२) सर्वार्थसिद्धि—[श्रीयुत कैलाशचन्द्र शास्त्री ··· १९९
(३) ग्रन्थराज श्रीधवलसिद्धान्त का प्रकाशन—[श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण ··· २००

ग्रन्थमाला-विभाग—

१ तिलोयपण्णत्ती [श्रीयुत प्रो० ए० एन० उपाध्ये, एम० ए० ··· ९७ से १०४ तक
२ प्रशस्ति-संग्रह [श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण ··· १५३ से १६० तक

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

श्रीजिनाय नमः

जैनपुरातत्त्व और इतिहास-विषयक त्रैमासिक पत्र

भाग ६ | दिसम्बर १९३९। मार्गशीर्ष वीर नि० सं० २४६६ | किरण ३

द्रौपदी के पञ्चपतित्व पर विचार

[लेखक—श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण]

भारतीय प्राचीन धर्मों में हिन्दू, जैन और बौद्ध धर्म प्रमुख हैं। इनमें बौद्ध धर्म को छोड़कर हिन्दू एवं जैन धर्म में द्रुपद-पुत्री द्रौपदी को उच्च स्थान प्राप्त है। साथ ही साथ भारतवासी प्राचीन सतियों में द्रौपदी का भी नाम बड़ी श्रद्धा से लेते हैं। इतना होते हुए भी द्रौपदी के पतित्व के सम्बन्ध में उक्त धर्मों में जो मत-भेद चला आ रहा है उस पर कुछ प्रकाश डालना ही प्रस्तुत लेख का ध्येय है। सम्पूर्ण महाभारत का तुलनात्मक विवेचन करना इस लेख का लक्ष्य नहीं है। इस गुरुतर कार्य का निर्वाह इस छोटे से लेख में हो भी नहीं सकता। यह तो अगाध परिश्रम एवं विपुल अवकाश की अपेक्षा रखता है। अस्तु, इस प्रस्तुत विषय का क्रमशः पुस्तकीय प्रमाण, इतिहास, तर्क एवं भिन्न-भिन्न प्रामाणिक तथा मान्य विद्वानों की सम्मति-द्वारा विवेचन किया जायगा।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

हिन्दू धर्म—द्रौपदी राजा द्रुपद की पुत्री तथा धृष्टद्युम्न की बहन थी। राजा द्रुपद द्रौपदी का विवाह शूरवीर अर्जुन के साथ ही करना चाहता था। किन्तु वन-वास होने के कारण अर्जुन का पता लगाना भी सुलभ नहीं था। इसलिये द्रुपद ने एक ऐसा मत्स्यबेधी लक्ष्य बनवाया जिसको अर्जुन के अतिरिक्त दूसरा कोई धनुर्धर बेध ही नहीं सकता था। इस कार्य की पूर्ति के लिये इन्हें एक स्वयम्वर की आयोजना करनी पड़ी। क्योंकि द्रुपद को पक्का विश्वास रहा कि वीरता-द्योतक स्वयम्वर की यह ललकार सुन कर अर्जुन इसमें विना सम्मिलित हुए नहीं मानेगा। बात भी ऐसी ही हुई। अर्जुन उस लक्ष्य को बेध कर द्रौपदी से विवाह करने में सक्षम हुआ। अर्जुन अपने भाइयों के साथ द्रौपदी को अपनी मा के पास लिवा ले जाकर दूर ही से कहा कि मा! आज एक रमणीय भिक्षा लाया हूं। कुन्ती घर के भीतर ही से बोली कि सभी भाई मिलकर बाँटकर खालो। अपनी पूज्य माता के इस आदेश से विवश हो पाँचो भाइयों (पाण्डवों) ने सम्मिलित रूप से द्रौपद्री के साथ विवाह कर लिया। (महाभारत)

जैन धर्म—द्रौपदी राजा द्रुपद की पुत्री थी। द्रुपद माकन्दीपुर का शासक था। जब द्रौपदी बाल्यावस्था को पार कर यौवनावस्था में पदार्पण करने लगी तब पिता द्रुपद को इसकी विवाह की चिन्ता हुई। इस बीच में खगाचल पर्वत पर रहने वाले सुरेन्द्रवर्धन नामक एक विद्याधर ने आ राजा द्रुपद को एक धनुष और कन्या सौंप कर कहा कि मुझे एक दैवज्ञ से ज्ञात हुआ है कि मेरी इस कन्या का वर वही होगा जो आप की कन्या द्रौपदी को वरेगा। किन्तु शर्त यह है कि इस गाण्डीव धनुष को चढ़ाना उस वर के लिये अनिवार्य होगा। इस कार्य की पूर्ति के लिये शुभ मुहूर्त में स्वयम्वर-समारोह रचा गया और देश-विदेश के सभी राजकुमार निमन्त्रित किये गये। इस अवसर पर पाण्डु के पुत्र युधिष्ठिर आदि पाँचों पाण्डव भी छिप कर ब्राह्मण-वेश में आकर सम्मिलित हुए। गाण्डीव धनुष चढ़ाने में सभी राजकुमारों के विफल होने पर अपने बड़े भाई युधिष्ठिर की आज्ञा पाकर वीरवर अर्जुन ने इस धनुष को बड़ी आसानी से चढ़ा दिया। द्रौपदी ने पूर्व निश्चयानुसार अर्जुन के गले में जयमाला पहनाई। पर दैववशात् वह माला वायु के अतिवेग से टूट गई, जिससे वहीं पास में बैठे हुए चार पाण्डवों की गोद में भी उसके मोती जा पड़े। इसीलिये लोगों की दन्तकथा चल पड़ी कि इसने पांचों ही पाण्डवों को वरा है।

(शुभचन्द्रकृत पाण्डवपुराण, अध्याय १६)

हां, श्वेताम्बर जैन भाइयों की मान्यता इससे भिन्न है। द्रौपदी पाँचाल के शासक द्रुपद की पुत्री थी। द्रौपदी का विवाह 'राधा-बेध' के विजयी से ही होना निश्चित हुआ। इसके लिये भी स्वयम्वर रचा गया और इस प्रतियोगिता में धनुर्धर अर्जुन ही विजयी हुआ।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

अतः द्रौपदी ने उन्हीं के गले में वर-माला डाल दी। परन्तु वह माला केवल अर्जुन ही के कण्ठ में नहीं पड़ी, पास-पास बैठे हुए सभी भाइयों के गले में पड़ गयी। इस कौतुक को देखकर सभी आश्चर्यित हो गये। यह जटिल प्रश्न अब उठ खड़ा हुआ कि द्रौपदी के पति पाँचो पाण्डव होंगे या अर्जुन ही? इस बीच में एक चारण मुनि वहाँ पर आ पहुंचे। इनके समक्ष यह विषम समस्या उपस्थित की गयी। चारण मुनि ने कहा कि यह आप की कन्या पूर्व भव में सागरदत्त नामक एक वैश्य की पुत्री थी। वहाँ इसका नाम सुकुमारिका था। उस समय इसके साथ विवाह करना किसी ने भी स्वीकार नहीं किया। फलतः यह उदासीन हो दीक्षा-ग्रहण कर एक साध्वी के निकट रहने लगी। एक दिन सुकुमारिका कुटी के पास बैठी हुई उद्यान की प्राकृतिक शोभा देख रही थी। उसी समय इसने देखा कि एक वेश्या के साथ पाँच नवयुवक चले जा रहे हैं और उस तरुणी पर वे मुग्ध हो रहे हैं। वेश्या भी बहुत प्रसन्न थी। उस दृश्य को देख कर सुकुमारिका के हृदय पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा। वह सोचने लगी कि भाग्य भी एक अलौकिक वस्तु है। एक मैं युवती हूं कि जिसे कोई पुरुष नहीं चाहता और एक यह वेश्या है कि जिसे पाँच-पाँच युवक तन-मन-धन अर्पण कर सेवक बने हुए हैं। यों विचार कर कामान्ध सुकुमारिका ने अपने चित्त में यह दृढ़ भावना की कि मेरे तपोबल के अमित प्रभाव से आगामी जन्म में मुझे पाँच पति प्राप्त हों। अपने पूर्व भव के संकल्पानुसार यह आप की कन्या द्रौपदी पाँच पतियों की गृहिणी हुई है। मुनि के वचन पर राजा द्रुपद को विश्वास हुआ। यथासमय राजा ने सहर्ष द्रौपदी का विवाह पाँचो पांडवों के साथ कर दिया।

द्रौपदी के पूर्व भव-सम्बन्धी यह कथा कुछ ही हेर-फेरके साथ दिगम्बरीय शुभचन्द्र-कृत पाण्डव पुराण* (वि० सं० १६८०) में भी मिलती है। वहाँ पर बताया गया है कि वसन्त-

---

* इस पाण्डवपुराण के अतिरिक्त पाण्डवचरित्रप्रतिपादक निम्नलिखित जैनग्रन्थ भी हैं :—

दिगम्बरीय

(१) संस्कृत में—द्रौपदी-प्रबन्ध— जिनसेन (२) पाण्डवपुराण—वादिचन्द्र सूरि (वि० सं १६८३) (३) पाण्डवपुराण—पण्डित श्रीदत्त। प्राकृत में—(१) पाण्डवपुराण—देवप्रभ (२) पाण्डवपुराण—यशःकीर्त्ति। हिन्दी में—(१) पाण्डवपुराण—पन्नालाल चौधरी (२) पाण्डवपुराण छन्दोबद्ध—बुलाकीदास।

(देखें—'दिगम्बर जैन ग्रन्थकर्त्ता और उनके ग्रन्थ')

कन्नड में—(१) साल्व भारत—साल्व (ई० सन् लगभग १५५०) (२) जिन भारत—ब्रह्मणांक (ई० सन् लगभग १८००) (देखें—कन्नडकविचरिते) इनके अलावा हरिवंशपुराण (संस्कृत) नेमिजिनेशसंगति (कन्नड) आदि ग्रन्थों में भी पाण्डवों का चरित्र उपलब्ध होता है।

श्वेताम्बरीय

(१) ज्ञातासूत्र (२) वसुदेव हिंडी (३) त्रिषष्ठिशलाका-पुरुषचरित्र (तेरहवीं शताब्दी) (४) पाण्डवचरित्र—

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

सेना नाम की वेश्या को देख कर इसने जो निदान (आगामी भवसम्बन्धी सुखलिप्सा) किया था; यह उसका प्रभाव है कि सारे संसार में इसकी यह अपकीर्ति उड़ी कि द्रौपदी के पाँच पति हैं।

बौद्धधर्म—बौद्ध धर्मान्तर्गत द्रौपदी की कथा के सम्बन्ध में मैं अपनी ओर से कुछ भी न लिख कर मेरे पत्र के उत्तर में सारनाथ से श्रीयुत भिक्षु आनन्द कौसल्यायनजी का जो पत्र आया है उसी का अंश सधन्यवाद यथावत् यहाँ उद्धृत किये देता हूं:—

द्रौपदी अथवा कण्हा (कृष्णा) स्वयंवर में अपने रागाधिक्य के कारण एक नहीं पाँच पतियों (अज्जुनो, नकुलो, भीमसेनो, युधिष्ठिलो, सहदेवो, पाण्डुराज-पुत्ता) का वरण करती है। उनकी अनुपस्थिति में अपने एक कुबड़े परिचारक के साथ भी सहवास करती है। सब को धोखे में रखती है। सब यही समझते हैं कि उनमें से प्रत्येक को वह व्यक्तिगत रूप से औरों से अधिक प्यार करती है। लेकिन आखिर में भेद खुल जाता है। अर्जुन आदि पाँचो भाइयों को स्त्री से वैराग्य होता है और वे हिमालयको चले जाते हैं वहाँ योगाभ्यास कर आयु के समाप्त होने पर अपनी गति को प्राप्त होते हैं। (जातक-कथा में कुनालजातक)

उपर्युक्त हिन्दू एवं बौद्ध धर्मोंके उल्लेखों से यह बात स्पष्ट सिद्ध होती है कि द्रौपदी अथवा कृष्णा ने पाँचों पाण्डवों से विवाह किया था। अब रहा जैन धर्म। जैनधर्म में भी सिर्फ दिगम्बर-साहित्य इस बात से असहमत है। यह तो इसे खुले रूप में खण्डन करता है। हाँ, श्वेताम्बर-ग्रन्थ—प्राचीनतम आगम-ग्रन्थ ज्ञातासूत्र से लेकर सभी—पाँचों पाण्डवों के साथ द्रौपदी के विवाह की बात स्पष्ट स्वीकार करते हैं। अब हमें यह देखना है कि दिगम्बरीय साहित्य में एतत्सम्बन्धी सबसे प्राचीन उल्लेख कहाँ पर मिलता है। दिगम्बर-जैन-साहित्यमें जिनसेन-कृत हरिवंशपुराण एक प्रसिद्ध और प्राचीन ग्रन्थ है। उपलब्ध संस्कृत-पुराण ग्रन्थों में रविषेणाचार्य-कृत पद्मपुराण के बाद समयकी दृष्टि से यही दूसरा ग्रन्थ है। यह हरिवंशपुराण शक सम्वत ७०५ विक्रम सम्वत् ८४० में रचा गया था। इस में द्रौपदी के पञ्च-पतित्व के खण्डन में निम्नलिखित उल्लेख उपलब्ध होता है:—

द्रौपदी च द्रुतं मालां कन्धरेऽभ्येत्य बन्धुरे।
अकरोत्करपद्माभ्यामर्जुनस्य वरेच्छया ॥१३५॥
विप्रकीर्णा तदा माला सहसा सहवर्तिनाम्।
पञ्चानामपि गात्रेषु चपलेन नभस्वता ॥१३६॥

देव विजय (वि० सं० १६६०) (५) द्रौपदी-स्वयम्वर नाटक—विजयपाल (तेरहवीं शताब्दी) (६) द्रौपदी चौपई—समय सुन्दर (वि० सं० १७००) (७) द्रौपदी चौपई—जिनचन्द्र सूरि (सत्रहवीं शताब्दी) (८) द्रौपदी चौपई—कनककीर्त्ति (वि० सं० १६६३) (९) पांडव चौपई—लाभवर्द्धन (वि० सं० १७६७) (१०) भरतेश्वर बाहुबलि-वृत्ति आदि (यह श्वेताम्बरीय तालिका बा० अगरचन्द जी नाहटा से प्राप्त हुई)

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

ततश्चपललोकस्य तत्त्वमूढस्य कस्यचित् ।
वाचोदितोरुदित्युच्चैर्वृताः पञ्चानयेत्यपि ॥१३७॥
सद्गन्धस्य सुवृत्तस्य तुंगस्य फलितस्य सा ।
पुष्पितेव लताभासोदर्जुनस्यांगमाश्रिता ॥१३८॥
द्रौपदी दीपिकेवासौ स्नेहसम्भारपूरिता ।
पाणिग्रहणयोगेन दिदीपेऽर्जुनधारिता ॥१४६॥
विवाहमंगलं दृष्ट्वा द्रौपद्यर्जुनयोर्नृपाः ।
आयाताः पाण्डवैर्युक्ताः स्थानं दुर्योधनोऽप्यगात् ॥१४७॥
स्नुषाबुद्धिरभूत्तस्यां ज्येष्ठयोरर्जुनस्त्रियाम् ।
द्रौपद्यां यमलस्यापि मातरीवानुवर्तनम् ॥१५०॥

(माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला—खण्ड २, पृष्ठ ५५३-५५४)

उल्लिखित पद्यों से यह बात स्पष्ट सिद्ध होती है कि द्रौपदी का विवाह अर्जुन से ही हुआ था। दैववशात् वरमाला के टूट कर पास ही में बैठे हुए अन्य भाइयों की गोदी में बिखर जाने से ही यह पंचपतित्व का अपवाद लोक में फैल गया। बल्कि १५० वाले पद्य में यह बात साफ-साफ लिखी हुई है कि द्रौपदी पर अर्जुन के बड़े भाइयों का भाव पुत्र-वधूवत् एवं छोटे भाइयों का मातृवत् रहा। संभव है कि इस हरिवंशपुराण के अतिरिक्त इससे भी प्राचीन किसी अन्य दिगंबर ग्रन्थ में भी इस बात का उल्लेख मिलता हो। परन्तु अभी तक वह मेरे दृष्टिगोचर नहीं हुआ है। अब हमें देखना है कि महाभारत जो कि भारतवर्ष में प्राचीन इतिहास का एक प्रधान ग्रन्थ माना गया है, इसमें इस बात का आभास मिलता है कि नहीं। हिन्दू जनता तो इसे अपना धर्मग्रन्थ ही मानती है और इसको इतनी प्रतिष्ठा है कि यह पञ्चम वेद ही माना जाता है। पाश्चात्यों ने भी इसको इतिहास, आख्यान और पुराणों का प्राचीनतम प्रधान निदर्शक माना है। नीचे इसी महाभारतान्तर्गत द्रौपदी स्वयंवर-संबन्धी कथा के विषय में कुछ विवेचन किया जाता है।

माता का आदेश सुन कर अर्जुन ने जब युधिष्ठिर के समक्ष पांचो भाई मिल कर द्रौपदी से विवाह करने का प्रस्ताव रक्खा तब युधिष्ठिर ने उत्तर दिया कि तुमने द्रौपदी को जीता है। तुम्हें ही यह राज-कुमारी शोभा देगी। विधिपूर्वक इसका पाणिग्रहण तुम्हीं करो*। हां, आश्चर्य की बात है कि आगे चल कर इस विवाह के संबन्ध में सत्य एवं धर्मनिष्ठ युधिष्ठिर की नियत भी बिगड़ जाती है। धृष्टद्युम्न के द्वारा छोटे भाई की

* "त्वया जिता फाल्गुन याज्ञसेनी त्वयैव शोभिष्यति राजपुत्री ।
प्रज्वाल्यतामग्निरमित्रसाह गृहाण पाणिं विधिवत्त्वमस्याः" ॥७॥ (आदिपर्व, अध्याय २०६)

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

पत्नी को बड़ा भाई किस प्रकार ग्रहण कर सकता है[१]—यों व्यासजी से पूछने पर युधिष्ठिर स्वयं बीचमें कह बैठते हैं कि मैं ने कभी असत्य भाषण नहीं किया है और न अधर्म की ओर चित्त लगाया है। मेरे मन में यह विचार होता है कि इसमें—द्रौपदी के बहु-पतित्व में—कोई अधर्म नहीं है[२]। एकचक्रा में इन्होंने केवल अर्जुन से ही विवाह करने का अनुरोध किया था। परन्तु पाञ्चाल की राजधानी में आते ही उनका वह पूर्व विचार विलीन हो गया। संभव है कि इसका कारण द्रौपदी का अलौकिक सौन्दर्य ही हो[३]। पीछे व्यासजीने भी द्रौपदी के पूर्व-भव-सम्बन्धी दो कथाओं को सुना कर इस विवाह को वैध बतलाया। पर श्रीयुत लक्ष्मीनाराणजी सुधांशु काशी ने इन कथाओं को तथ्यहीन बता कर इन्हें ज़ोरदार शब्दों में खण्डन किया है[४]। महाभारत में आगे एक और पद्य उपलब्ध होता है। उसमें लिखा है – द्रौपदी ने अर्जुन के साथ विवाह किया है यह जान कर राजा दुर्योधन अश्वत्थामा, शकुनि, कर्ण, कृपाचार्य एवं भाइयों के साथ उदास हो कर लौटे[५]। इससे स्पष्ट है कि द्रौपदी ने अर्जुन के साथ ही विवाह किया था न कि पाँचो पाण्डवों के साथ। और एक घटना देखें। जब अर्जुन सुभद्रा-सहित इन्द्रप्रस्थ को पहुंचे तब सुभद्रा को देख कर द्रौपदी ने मात्सर्य से अर्जुन से यों कहा कि वहीं जावो जहाँ यादवपुत्री सुभद्रा है। संसार का यह नियम है कि पहले का बन्धन नये बन्धन से ढीला पड़ जाता है[६]।

द्रौपदी के इस कथन से सपत्नी-भाव प्रकट होता है। उसे यह भय हुआ कि सुभद्रा के आने से प्रायः अर्जुन का वह प्रेम अब उसे नहीं मिल सकेगा। क्योंकि युधिष्ठिर, भीम

---

१ "यवीयसः कथं भार्यां ज्येष्ठो भ्राता द्विजर्षभ।
ब्रह्मन्समभिवर्तेत सद्वृत्तः संस्तपोधन ॥१०॥ (आदिपर्व, अध्याय २११)

२—न मे वागनृतं प्राह नाधर्मे धीयते मतिः।
वर्तते हि मनो मेऽत्र नैषोऽधर्मः कथञ्चन" ॥१३॥
(आदिपर्व, अध्याय २११)

३—"तां द्रौपदीं प्रेक्ष्य तदास्म सर्वे कन्दर्पबाणाभिहता बभूवुः।"

४—देखें—"नागरी प्रचारिणी पत्रिका" भाग १२, अंक २।

५—"अथ दुर्योधनो राजा विमना भ्रातृभिः सह।
अश्वत्थाम्ना मातुलेन कर्णेन च कृपेण च ॥ २॥
विनिवृत्तो वृतं दृष्ट्वा द्रौपद्या श्वेतवाहनम्।
तं तु दुःशासनोऽव्रीडो मन्दं मन्दमिवाब्रवीत्" ॥ ३॥
(आदिपर्व, अध्याय २१९)

६—"तत्रैव गच्छ कौन्तेय यत्र सा सात्वतात्मजा।
सुबद्धस्यापि भारस्य पूर्वबन्धः श्लथायते॥"

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

आदि की पत्नियों को देख कर द्रौपदी ने कभी ऐसा भाव प्रकट नहीं किया है। महाभारत के भिन्न-भिन्न उल्लेखों से भी पता चलता है कि द्रौपदी अर्जुन को अधिक प्यार करती थी। विलाप करती हुई देख कर सुभद्रा ने भी उन्हें प्रणाम कर कहा था कि मैं तुम्हारी दासी हूं *। सुभद्रा ने भी ऐसा व्यवहार और किसी जेठानी या देवरानी से किया हो यह ज्ञात नहीं होता। इन सब बातों को देख कर ही विद्वानों का कहना है कि महाभारत में भिन्न-भिन्न प्रकार की शैलियाँ ही स्पष्ट बतलाती हैं कि यह ग्रन्थ एक समय में नहीं बना है और इसके प्रणेता भी एक नहीं हैं। साथ ही साथ द्रौपदी का पंचपतित्व भी काल्पनिक एवं क्षेपक है।

ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने पर भी यह बात स्पष्ट सिद्ध होती है कि प्राचीन भारत में बहुपतित्व की प्रथा सर्वमान्य रूप से प्रचलित नहीं थी। बहुपतित्व की प्रथा का उल्लेख तो हमें महाभारत को छोड़ कर अन्य किसी ग्रन्थ में नहीं मिलता। अन्यान्य मान्य हिन्दू-स्मृतियों एवं अन्य गृह्य-सूत्रों में भी द्रौपदी के विवाह जैसी प्रथा का वर्णन या विधान देखने में नहीं आता है। इससे यह बात आसानी से जानी जा सकती है कि वास्तव में भारतवर्ष में द्रौपदी के विवाह जैसी प्रथा का प्रचार कभी नहीं था।

रायबहादुर चिन्तामणि विनायक वैद्य, एम० ए०, एल-एल० बी० महाभारत के विशेष मर्मज्ञ विद्वान् हैं। इन्हों ने मराठी भाषा में महाभारत का एक आलोचनात्मक विस्तृत निबन्ध लिखा है। इसमें लिखा है—"अनेक स्त्रियों से एक पुरुष के विवाह करने की रीति वैदिक काल से महाभारत के समय-पर्यन्त, न्यूनाधिक परिमाण में, प्रचलित थी, परन्तु एक स्त्री के अनेक पति करने की प्रथा आरंभ में उन चन्द्र वंशी आर्यों में थी, जो हिमालय से नये-नये आये थे। द्रौपदीके उदाहरण से यह बात माननी पड़ती है। इसमें विशेष रूप से ध्यान देने योग्य बात यह है कि ये अनेक पति विभिन्न कुटुम्बों के नहीं, सम्मिलित कुटुम्ब के सगे भाई होते थे। आज कल की हिमालय की तरफ पहाड़ी लोगों में, कुछ स्थानों में यह प्रथा प्रचलित है। वहां भी यही बात है। विवाहित स्त्री को किसी प्रकार के कष्ट से आशंका नहीं रहती। भारतीय आर्यों में पहले से ही इस प्रथा के विषय में प्रतिकूल मत था। कुछ चन्द्रवंशीय आर्यों द्वारा लायी गई यह प्रथा भारतवर्ष में प्रचलित नहीं हुई। महाभारत के समय में आर्यों में यह प्रथा बिल्कुल नहीं थी। महाभारतकार के लिये एक द्रौपदी का पाँच पाण्डवों की पत्नी होना एक पहेली ही था, और इसका निराकरण करने के लिये सौति ने महाभारत में दो-तीन कथायें मिला दी हैं। विशेषतः कुन्ती का बिना देखे भाले यह कह देना कि जो भिक्षा लाये हो उसे बाँट लो, और तदनुसार पाँचों भाइयों का एक ही स्त्री को अपनी-अपनी पत्नी बना लेना, बहुत ही विचित्र है। युधिष्ठिर के कथनानुसार मानना

* "ववन्दे द्रौपदीं भद्रा प्रेष्याहमिति चाब्रवीत"।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

चाहिये कि पूर्व समय में यह प्रथा कुछ लोगों में थी, किन्तु ऊपर सौति ने जो प्रयत्न किया है उससे भली भाँति सिद्ध है कि महाभारत के समय भरत-खण्ड से वह प्रथा उठ गयी थी।"

इनके इस मत के सम्बन्ध में लक्ष्मीनारायणजी सुधांशु का यह अभिप्राय है—"वैद्य महाशय के कथन का मूल्य है। वह भी इस प्रथा को आर्य-साहित्य में विस्मयपूर्ण दृष्टि से ही देखते हैं। उन्होंने अपने गवेषणामय 'उपसंहार' में जो कुछ विवेचना-तर्कणा की हैं वह महाभारत की प्रत्येक कथा पर आस्था रखते हुए ही की गयी है। उनकी युक्तियाँ जटिलता को सुलझा कर भी अलग ही रही हैं, कथावस्तु में कोई विशेष व्यवधान उपस्थित नहीं हुआ है। यही कारण है कि द्रौपदी के विवाह को विचित्र और अप्रचलित मानते हुए भी, उन्होंने केवल धर्मराज युधिष्ठिर के कथनानुसार कुछ समय के लिये, पूर्वकाल में इस प्रथा के अस्तित्व को मान लिया है, परन्तु यह ध्यान रखना चाहिये कि महाभारत के समय में वह इस प्रथा को प्रचलित नहीं मानते। महाराज युधिष्ठिर के कथन का जो उल्लेख उन्होंने किया है हमारी समझ से संभवतः वह यही होगा—

"श्रूयते हि पुराणेऽपि जटिला नाम गौतमी। ऋषीनध्यासितवती सप्तधर्मभृताम्वरा ॥१४॥
तथैव मुनिजा वार्क्षी तपोभिर्भावितात्मनः। संगताभूद्दशभ्रातॄनेकनाम्नः प्रचेतसः ॥१५॥
(आदिपर्व, अध्याय २११)

अर्थात् 'पुराण की कथा में सुनता हूं कि जटिला गौतमी का विवाह सात ऋषियों के साथ हुआ था, और वार्क्षी नामक एक ऋषि-कन्या का विवाह प्रचेता आदि दस भाइयों के साथ हुआ।' हमें इस कथन की सत्यता सन्दिग्ध मालूम होती है, क्योंकि यह स्पष्ट है कि पुराणों की रचना महाभारत के पीछे हुई है, अत एव पूर्ववर्ती में परवर्त्ती वस्तु का उल्लेख किसे न खटकेगा? थोड़ी देरके लिये, दुष्ट-तोषणानुसार, इस कथन पर विश्वास रख कर हम पौराणिक अनुक्रमणिका भी देख गये, किन्तु जटिला और वार्क्षी का पता नहीं लगा। मालूम नहीं, किस पुराण में इनका वर्णन हैं। यदि पुराणेऽपि का अर्थ प्राचीन जनश्रुति में लगावें तो भी इनका कहीं अन्यत्र उल्लेख नहीं मिलता। हर्बर्टस्पेंसर की ज्ञेयमीमांसा के अनुसार, कि प्रत्येक जनश्रुति में सत्य का कुछ न कुछ आधार अवश्य रहता है, हम इस अनिश्चित किम्वदन्ती पर बौद्धिक उत्कर्ष के इस प्रगतिशील युग में, विश्वास करने में असमर्थ हैं। किसी अन्य सबल प्रमाण को हम सादर अपने सिर पर रक्खेंगे, किन्तु तर्क-हीनता कोई प्रमाण नहीं है। महाभारत में चन्द्रवंशियों के हिमालय की तरफ से आने का उल्लेख हमें कहीं नहीं मिला, और न किसी चन्द्रवंशी आर्य में इस प्रकार के विवाह का कहीं उदाहरण ही देख पड़ा। अत एव चन्द्रवंशियों में इस प्रथा का अस्तित्व कैसे माना जा सकता है? किसी देश या किसी समाज में आवश्यकता ही किसी प्रथा को जन्म देती है। भारतवर्ष में कभी स्त्री-पुरुषों की संख्या में गहरी विषमता उत्पन्न नहीं हुई, अतः अनेक पुरुष एक स्त्री को

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

अपनी अपनी पत्नी बनाने को किसी प्रकार बाध्य नहीं कर सकते। हिमालय के पार्श्ववर्ती तिब्बत आदि प्रान्तों में स्त्रियों की संख्या पुरुषों से न्यूनतर है, इसलिए वहां इस प्रकार की प्रथा अब भी प्रचलित है। भारतवर्ष में इस प्रथा के लिये कोई कारण नहीं था। हम कुछ काल तक के लिये यह मान लेते हैं कि द्रौपदी का विवाह माता कुन्ती के आज्ञानुसार हुआ, परन्तु महाभारत में इस प्रथा का जो उल्लेख है कम से कम उसके लिये तो कुछ कारण होना चाहिये। द्रौपदी का विवाह तो प्रथा के अनुसार ही हुआ था, उससे प्रथा की उत्पत्ति नहीं हुई। बहुत विचार और तर्क-वितर्क करनेके उपरान्त भी इसका कुछ कारण नहीं सूझ पड़ता। ज्ञात होता है कि धार्मिक मर्यादा में ऐक्य रखने के लिये ही पीछे से महाभारत में यह काल्पनिक कथा समाविष्ट की गई है। इससे वृहत्तर भारतवर्ष की प्रथा का भी परिचय मिल जाता है और महाभारत का मूल्य तथा महत्त्व भी, एक प्रकार से, महत्तर हो जाता है। भारत के वाममार्गी क्षेपककारों को ही इसके लिये अधिक दोष दिया जाता है।"

अब इस विषय को खुलाशा करनेके लिये तर्क का आश्रय लिया जाता है। अर्जुन ने लक्ष्य बेध कर द्रौपदी पर केवल आर्यसंगत वैवाहिक अधिकार ही प्राप्त किया था। क्रीत दासी की तरह वह अर्जुन के घर नहीं गई थी जिससे अर्जुन अपने अधिकार-बल से पत्नीत्व के निर्मल एवं पवित्र मर्य्यादा को ठुकरा कर मनमाने उसे पांचों भाइयों की पत्नी बनाता। साथ ही साथ कुन्ती का सब मिल कर खाओ यह सन्देश तर्कहीन जचता है। क्योंकि व्यासजी की आज्ञा से द्रौपदी के स्वयंवर को देखने के लिये ही श्रद्धेय माता कुन्ती के साथ पांचो भाई एकचक्रा नगरी में कुम्भार के घर पर टिके थे और जिस दिन पांचो भाई ब्राह्मणों के साथ एकचक्रा से द्रौपदी के स्वयम्वर में गये थे उस दिन भी कुन्ती को यह बात ज्ञात थी। बल्कि स्वयम्वर से पुत्रों को लौटने में जब विलम्ब हुआ तब माता कुन्ती को अनेक प्रकार की आपदाओं की आशंका होने लगी थी। साथ ही साथ व्यासजी की बात पर भी उन्हें अविश्वास होने लगा था। अर्जुन के गले में वरमाला पड़ते ही जब वहाँ (पांचाल में) पर आपस में लड़ाई छिड़ गई तब युधिष्ठिर ने मन में सोचा कि यदि हम पांचों भाई एक ही साथ यहां रहेंगे तो सब कोई हमें पहिचान लेंगे। अतः पांचों भाइयों की उपस्थिति यहाँ कल्याणप्रद नहीं है। इस विचारानुसार भीमसेन को अर्जुन की सहायता के लिये वहीं छोड़ कर नकुल और सहदेव के साथ युधिष्ठिर एकचक्रा को चले आये। उनके वहां पर पहुंचते क्या माता कुन्ती ने अर्जुन, भीम और स्वयम्वर-संबंधी सारी बातें नहीं पूछी होंगी? क्योंकि वह तो पहले ही से पुत्र-मिलन के लिये विह्वल हो रही थीं। पूछी होंगी अवश्य और सत्यवक्ता धर्मराज युधिष्ठिर ने भी उन्हें प्रकृत बातों से अवगत कर सन्तुष्ट कर दिया होगा। साथ ही साथ अर्जुन और भीमसेन की आवाज सुनकर तीनों भाई और कुन्ती लड़ाई का समाचार पूछने को बाहर अवश्य आये होंगे। क्योंकि स्वयम्वर-विषयक युद्ध-संबन्धी वृत्तान्त का उन्हें जिज्ञासु होना सर्वथा स्वाभाविक है। दूसरी बात यह है कि कुन्ती को यह बात

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

भलीभांति ज्ञात थी कि आज पाँचों पूर्ववत् भिक्षा के लिये न जाकर स्वयम्वर में सम्मिलित होने गये हैं। अर्जुन तथा भीमसेन के साथ द्रौपदी के सिवाय स्वयम्वर से लौटे हुए ब्राह्मणों का एक विशाल झुण्ड भी मौजूद था। कुंभार की इस छोटी-सी कुटिया के द्वार पर इस जन-कोलाहल एवं नवीन पुत्रवधू को देखने के लिये कुन्ती का बाहर आना सहज अनिवार्य है। क्योंकि युधिष्ठिर आदि के द्वारा स्वयम्वर की बात पहले से ज्ञात थी ही। द्रौपदी के कुमारीत्व-सम्बन्धी बात भी तथ्यहीन ही जँचती हैं।

अब इस विषय पर विद्वानों की क्या सम्मति है, उसे भी सुन लें। प्रोफेसर मैक्समूलर[१] प्रोफेसर एच० एच० विल्सन[२], प्रोफेसर एम० विलियम[३] आदि विद्वानों ने अपनी-अपनी कृतियों में अपना विचार साफ प्रकट कर दिया है, जिनमें कुछ विद्वानों ने इसे अनार्य-प्रथा कहते हुए भारतवर्ष में इसके अस्तित्व या प्रचलन को मानते हैं और कुछ इसे बिल्कुल ही निराधार तथा काल्पनिक समझते हैं। इसी विषय का विवेचन करते हुए श्रीयुत हॉपकिंस ने 'अमेरिकन ओरियण्टल' में लिखा है 'फिर भी इनमें से कोई भी बात यह नहीं प्रमाणित करती है कि बहुपतित्व असल में एक आर्य-रीति थी।'[४] दूसरे एक विद्वान् ने इण्डियन एण्टिक्वेरी भाग ६, पृ० २६२ में लिखते हैं कि 'यह सत्य है कि पहले कुन्ती ने भूलसे ही द्रौपदी को मिल कर भोगने की आज्ञा पुत्रों को दी। पीछे उसे न्याय-संगत सिद्ध करने के लिये अलौकिक घटनायें उपस्थित की गयीं।' इसी प्रकार अन्यान्य विद्वानों ने भी इस प्रथा के प्रचलन के विरुद्ध अपने-अपने विचार प्रकट किये हैं। बहुसंख्यक विद्वानों का मत है कि यह प्रथा कभी भारतवर्ष में नहीं थी। यों तो आज भी अनार्यों में इस प्रथा का प्रचलन देख कर आपर्ट जैसे विद्वान् यह भी मानते हैं—'पांचों पाण्डवों में (द्रौपदी के) बहुपतित्व की घटना तथा अन्य अनोखी रीतियां उन्हें भारतवर्ष के अनार्य-निवासियों के साथ बहुत सम्बद्ध करती हैं'।[५] पर इसके उत्तर में श्री सुधांशुजी ने यों लिखा है—"उपर्युक्त कथन को आपर्ट महाशय को एकांगदर्शिता का उदाहरण ही समझना चाहिये, क्योंकि भारतवष के मूल अनार्य निवासियों के विषय में लिखते हुए, उन्होंने पांण्डवों को भी उनसे सम्बद्ध कर लिया। भारतीय आर्यों में इस प्रथा की व्यावहारिकता कभी संमान्य नहीं थी, अत एव आर्या द्रौपदी के ऊपर यह लाञ्छन लगाना उचित नहीं।"

द्रौपदी के इस पञ्चपतित्त्व के औचित्य या अनौचित्य पर अन्यान्य अधिकारी विद्वानों को भी अपना-अपना विचार प्रकट करना चाहिये, जिससे यह विषय हल हो जाय। पाश्चात्य विद्वानों ने तो इस पर कुछ प्रकाश डाला भी है, परन्तु भारतीय विद्वानों का ध्यान इधर अभी तक बहुत ही कम आकृष्ट हुआ है। अन्त में मैं काशी के श्रीयुत लक्ष्मीनारायणजी सुधांशु को धन्यवाद दिये विना नहीं रह सकता हूं, जिनके लेख से मुझे पर्याप्त सहायता मिली है।

१—*See*, Prof. Max Muller's Ancient Sanskrit Literature P. 46.
२—Prof: H. H. Wilson's Works Vol. III, P. 340.
३—Prof. M. William's Indian Epic Poetry, P. 99.
४—Jour. American Oriental Sec. XIII, 345.
५—" On the Original inhabitants of Bharatbarsha or India P. 617.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

क्या पावागढ़ दिगम्बर-तीर्थ है ?

[लेखक—श्रीयुत अगरचन्द नाहटा, बीकानेर]

भास्कर के भाग ५ की चौथी किरण में "हमारे तीर्थक्षेत्र" शीर्षक एक महत्त्वपूर्ण निबंध पं० नाथूराम जी प्रेमी एवं प्रो० हीरालाल जी जैन का प्रकाशित हुआ है। इस लेख में दि० मान्य सिद्ध क्षेत्रों की चर्चा करते हुए पावागिरि की भी चर्चा की गई है। लेखक महोदयों ने वर्त्तमान में पावागिरि रूप से मान्य दो स्थानों का परिचय दिया है, उनमें से प्रथम पावागढ़ के विषय में विचार करना ही हमारे इस लेख का विषय है। आशा है विद्वान् लोग इसे निष्पक्षतया पढ़ कर अपना-अपना मत प्रकाशित करने का कष्ट उठावेंगे।

"हमारे तीर्थक्षेत्र" निबंध पढ़ने के पूर्व ही पावागढ और चांपानेर के विषय में कुछ ज्ञातव्य बातें हमें पं० लालचंद्र भगवान दास गांधी (जैन पंडित बड़ौदा ओरिएन्टल इन्स्टीट्यूट) लिखित "गुजरातना वीर मंत्री तेजपालनो विजय"* नामक ग्रन्थ में पढ़ने को मिली थीं, उसी के आधार से आज हम इस सम्बन्ध में कुछ आलोचना कर रहे हैं।

तेरहवीं शताब्दी के श्वे० समाज के सुप्रसिद्ध शासनप्रभावक श्रावकरत्न मंत्रीश्वर तेजपाल से पूर्व प्रस्तुत पावागढ़ पर किसी जैन मन्दिर के होने का प्रमाण अद्यावधि अज्ञात है। अतः वर्त्तमान में उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर यही कहा जा सकता है कि "पावागढ़" की जैन तीर्थ के रूप से प्रसिद्धि होने का श्रेय मंत्रीश्वर तेजपाल को ही है। मंत्रीश्वर के पावागढ़ पर जैनमन्दिर बनाने का उल्लेख वस्तुपाल-चरित्र में इस प्रकार पाया जाता है:—

धोलका (गुजरात) के महाराणा वीर धवल की आज्ञा से मंत्रीश्वर तेजपाल ने गोध्रा के राजा घुघुल पर आक्रमण कर विजय प्राप्त की थी, विजय-प्राप्ति के अनंतर धोलका लौटते हुए मार्ग में मंत्री तेजपाल पावकगिरि पर पधारे। गिरिराज की नैसर्गिक शोभा को देख कर मंत्रीश्वर के मन में विचार हुआ कि "जिस प्रकार मंत्रीश्वर विमल ने आबू पासलि मंत्री ने आरासण और नृपति कुमारपाल ने तारंगादि पर जैनमन्दिर निर्माण कर उन्हें तीर्थभूत बना दिया, उसी प्रकार मैं भी इस पर्वत को जैनमन्दिर से अलंकृत कर तीर्थरूप बना दूं तभी मेरा जीवन एवं धन सफलीभूत होगा।"

ऐसे विचार कर मंत्री तेजपाल ने शीघ्र ही आश्चर्यकारी सर्वतोभद्र नामक अर्हत्-प्रासाद वहाँ बनवा दिया।

---

* प्र० अभयचन्द्र भगवानदास गांधी, हेरिस रोड़ भावनगर. मू० ॥)

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

पं० लालचन्द जी ने सर्वतोभद्रप्रासाद की फुटनोट में लिखा है कि "आश्वेताम्बर जैन-मंदिरनी मूर्तियोंने केटलाक श्वेताम्बर जैनोए कारणसर केटलांक वर्षो थी त्यांथी उपाडी लइ बडोदरा ना दादापार्श्वनाथना मंदिर मां स्थाप्य पछी पावागढ़ना उपर्युक्त श्वे० जैनमंदिर ने दिगम्बर जैनोए दि० मंदिर करी पोताने आधीन अधिकारनुं करी लीधुंहोय एम जणायछे।"

इस सर्वतोभद्र प्रासाद में मूलनायक-रूप से महावीर स्वामी की प्रतिमा थी, जिसका उल्लेख मंत्रीश्वर तेजपाल के समकालीन महेन्द्रसूरि जी ने (सं० १२२८ जन्म, १२३७ दीक्षा, १२६२ सूरिपद, १२७१ गच्छनायकपद, १३०४ स्वर्ग) अपने तीर्थमाला स्तोत्र में इस प्रकार किया है :—

पावयगिरिवरसिहरे दुह-दव-नीरं थुणे वीरं ॥

(वि० सं० १९२३ बम्बई के शा० हीरजी हंसराज प्र० रत्नसार भा० २ पृ० ३१ गाथांक ८१)

पावागढ़ की तलहटी-चांपानेर के निवासी पोरवाड सा० गुणेय और को० वाघाकारित सं० १४९० के पंचतीर्थी तथा शांतिनाथ-प्रासाद के आलेख्यपट्ट‡ पाटण के संघवीपाड़े के ताड़-पत्रीय ज्ञानभांडार में हैं। वे चित्र भी चांपानेर एवं पावागढ़ के श्वे० मंदिरों के ही विदित होते हैं।

पावकगिरि पर अन्य श्वे० मंदिर

पंद्रहवीं शताब्दी के शेष भाग में तपागच्छीय भुवनसुन्दरसूरि हो गये हैं। उनके रचित संभवस्तोत्र में उपर्युक्त वीर जिनालय से भिन्न संभवनाथ-मंदिर का उल्लेख मिलता है:—

"महाप्रातिहार्यश्रिया शोभमानं, सुवर्णादिवप्रत्रयीदीप्यमानम्।
स्फुरत्केवलज्ञानवल्लीवसन्तं स्तुवे पावके भूधरे शम्भवं तम्॥

इसी स्तोत्र में पावागढ़ को शत्रुंजय तीर्थ के अवतारूप से कहा गया है:—

स्थितं पुण्डरीकाचलस्यावतारेऽखिलक्ष्माधरश्रेणिशृङ्गारहारे।
तृतीयं जिनं कुन्ददन्तं भदन्तं स्तुवे पावके भूधरे शम्भवं तम्॥

(जैनस्तोत्र-सन्दोह भा० २, पृ० १६६-६७)

श्वे० समाज में सर्वतीर्थों में श्रेष्ठ शत्रुंजय है। उसकी उपमा पावागढ़ को दी गई हैं। इससे उस समय यह पावागढ़ श्वे० जैनों का कैसा मान्य तीर्थ था यह स्वतः प्रमाणित है।

१६ वीं शताब्दी में मांडवगढ़ के संघपति वेल्हाक ने उपर्युक्त पावक शैलस्थित संभवनाथ की वंदना की थी, ऐसा सं० १५४१ में रचित "गुरुगुणरत्नाकर" काव्य में उल्लेख पाया जाता है।

‡ उपर्युक्त उल्लेख पट्ट के फोटो 'दी इण्डिया सोसायटी, लंदन' द्वारा सन् १९३२ में प्र० 'इण्डियन आर्ट एन्ड लेटर्स' में रा० नानालाल चीमनलाल मेहता आई० सी० एस० के परिचयात्मक लेख के साथ प्रकाशित हो चुके हैं।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

सं० १५२० के लगभग रचित रत्नमंदिर के उपदेशतरंगिणी में पुरुषप्रवर्त्तित तीर्थों का उल्लेख करते हुए अन्य तीर्थों के साथ साथ प्रस्तुत पावागढ़ को भी 'पावक' शब्द से सूचित किया है।

इसी समय के लगभग सोमदेव सूरि पावागढ़-चंपानेर के नृपति जयसिंह से सम्मानित हुए थे।

सं० १५२७ में पावागढ़ पर एक अर्हत्-चैत्य और अर्हत्-बिम्ब की स्थापना और हुई थी यथा :—

श्रीमच्चंपकनेर-पावकगिरौ प्रोत्तुंग शृंगेऽर्हत-
श्चैत्यं तत्र च बिंबमार्हतमतिप्रौढं प्रतिष्ठां तथा।
तस्योच्चैर्मुनि-दृग्शरक्षितिमिते वर्षे सहर्षोत्सवं।
पौषस्यासितपंचमीसुदिवसे यौ कारयांचक्रतुः ॥१३॥

(पाटण तपागच्छ भं० डा० ३७ प्रशस्ति)

सं० १७४१ में लक्ष्मीरत्नकृत खेमादेदराणीरास से स्पष्ट है कि उस समय तक पावागढ़ पर बड़े बड़े कई श्वे० जैनमंदिर विद्यमान थे :—

"गुजर देश छे गुणनीलो, पावा नामें गढ़ बेसणो।
मोटा श्रीजिनतणा प्रासाद, सरग सरीशुं मांडे वाद ।२।
वसें सहर तलेटीपास, चांपानेर नामे सुविलाश।
गढ़मढ़ मंदरपोलप्रकास, सप्त भूमी उत्तम आवाश ।३।"

(ऐ० राससंग्रह भा० १, यशो० ग्रन्थमाला प्र०)

पावागढ़ की तलहटी में स्थित चांपानेर में श्वे० जैनों का अच्छा निवास था, चांपानेर में भी कई श्वे० जैनमन्दिर थे। इन सब बातों का विशेष विवरण पं० लालचंद्र जी गांधी लिखित 'तेजपालनो विजय' नामक ग्रंथ में ही देखना चाहिये। यहां तो केवल यही बतलाना अभीष्ट है कि पावागढ़ तीर्थ श्वेतांबर समाज का है। १८वीं शताब्दी तक के श्वे० जैनों के कई प्रौढ़ जिनालय इस गिरिराज पर विद्यमान थे एवं श्वे० समाज इसे तीर्थरूप से बहुत समय से मानता चला आया था।

अब प्रश्न यह रह जाता है कि श्वेतांबरों ने इसे छोड़ा क्यों ? इसका कारण उक्त ग्रन्थ में इस प्रकार बतलाया गया है.—

"ई० १७ वीं शताब्दी के प्रारंभ में यहाँ की आबहवा बिगड़ गई थी और जल भी खारा हो गया था, शहर बड़ी दुर्दशा में था।"

ई० १८०३ में पावागढ़ बृटिश गवर्नमेण्ट के कब्जे में आया, उस समय (चांपानेर) शहर

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

में ५०० मनुष्यों की बस्ती थी। फौज के आगमन को सुनकर बहुत सी बस्ती वहाँ से भाग निकली थी, अशक्त एवं रोगी ही रह पाये थे।

ई० १८१२ में ४०० घरों की बस्ती थी, जिनमें आधे बाहर से आकर बसे हुए थे।

ई० १८२९ में रेशमी कपड़ों के वणकरों में कॉलेरा से कमी हो गई थी। × × मार्ग के दक्षिणस्थ डुंगरी के तलेटी के समीप घरों के ध्वंशावशेष एवं थोड़े जैनमंदिर हैं।

ई० १८५३ के ३१ जुलाई को यह स्थान पुनः बृटिश सरकार के आधीन हुआ; तब यह बहुत कुछ उज्जड हो गया था। बस्ती का एक ही भाग रहा था × × ×

उपर्युक्त विषम स्थिति में चांपानेर-पावागढ़ से श्वे० जैनों ने अंतिम बिदा ली, अन्यत्र जाते हुए उन्होंने अपनी आराध्य कई मूर्त्तियों को भी साथ ले ली और निर्भय स्थानों में उन्हें स्थापित कर दी, अतः खाली पड़े हुए जैनमन्दिरों पर (दि०) अन्य समाजवालों ने अधिकार जमा लिया।

अब हमें यह देखना रह जाता है कि दि० जैनों का यहाँ अधिकार कब से हुआ। 'हमारे तीर्थक्षेत्र' लेखानुसार यहाँ सब से प्राचीन प्रतिमा सं० १६४२ की है। "परन्तु प्रतिमा-लेखों से अथवा और किसी प्राचीन लेख से इस स्थान का सिद्धक्षेत्र होना प्रकट नहीं होता।×× × × रविषेणाचार्य के पद्मचरित के अनुसार रामचन्द्र के पुत्र लव-कुश ने अयोध्या में ही दीक्षा ली थी, परन्तु इस बात का कोई उल्लेख नहीं कि उनका निर्वाण पावागिरि से हुआ था। अन्य किसी कथा-ग्रन्थ में भी इसका स्पष्ट निर्देश देखने में नहीं आता है" न तो यहाँ के लेखों द्वारा यह स्थान सिद्धक्षेत्र ही है और न लवकुश की निर्वाण भूमि ही। अतः इसकी तीर्थरूप से स्थापना अर्वाचीन ही प्रतीत होती है।

ऐतिहासिक दृष्टि से यह अनुसंधान कर निर्णय करना चाहिये कि यहाँ के लेखों में पावागिरि—पावकगढ़ का नाम सब से प्राचीन कौन से संवत् के लेख में आता है एवं यहाँ मन्दिर बनवानेवालों का उल्लेख कितने प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है? आशा है विद्वान् लोग इस सम्बन्ध में विशेष प्रकाश डालने की शीघ्र कृपा करेंगे।

मेरा निवेदन

भाई नाहटा जी के हम कृतज्ञ हैं कि उन्होंने पावागढ़ के सम्बन्ध में बहुत-सी ऐसी नई बातें बतलाईं जिनका हमें पता नहीं था। उन्होंने अपना उपर्युक्त लेख पं० लालचन्द जी गाँधी की लिखी हुई 'गुजरातना वीर मन्त्री तेजपालनो विजय' नामक जिस गुजराती पुस्तक के आधार से लिखा है उसको भी मँगाकर हमने पढ़ा। उसमें इस प्रकार के बीसों पुष्ट प्रमाण दिये गये हैं जिनसे यह बात अच्छी तरह सिद्ध हो जाती है कि कम से कम

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

विक्रम की तेरहवीं शताब्दी के बाद से अठारहवीं शताब्दी तक श्वेताम्बर-सम्प्रदाय में पावकगढ़ बहुत ही प्रख्यात रहा है और उस पर समय-समय पर अनेक जैन मन्दिर बनते रहे हैं। उस समय के बहुत से लोगों की दृष्टि में तो वह पालीताणा या शत्रुंजय की जोड़ का तीर्थ रहा है।

सुप्रसिद्ध जैन मंत्री तेजपाल का समय वि० सं० १२७६ से १३०४ तक माना जाता है। शायद उन्होंने सब से पहले पावकगढ़ पर सर्वतोभद्र नामक विशाल जैन मन्दिर बनवाया और तभी से श्वेताम्बर-सम्प्रदाय में वह तीर्थरूप से प्रख्यात हुआ। इसके पहले भी वह श्वेताम्बर तीर्थ था, इस प्रकार का कोई प्रामाणिक उल्लेख अभी तक हमारे देखने में नहीं आया है।

'हमारे तीर्थक्षेत्र' नामक लेख में यही लिखा गया है कि वहाँ के प्रतिमा-लेखों से अथवा और किसी प्राचीन लेख से पावागढ़ का सिद्धक्षेत्र होना प्रकट नहीं होता। परन्तु उसका यह अर्थ नहीं है कि श्वेताम्बर-सम्प्रदाय के समान दिगम्बर-सम्प्रदाय वाले इसे पहले पूज्य स्थान नहीं मानते थे या उनके प्राचीन मन्दिर वहाँ न रहे होंगे।

वहाँ के दिगम्बर-मन्दिरों में वि० सं० १६४२ से १६६९ तक की प्रतिष्ठित प्रतिमायें तो हैं ही, साथ ही दि० जैन डिरैक्टरी के अनुसार पाँचवें फाटक के बाद की एक भीत पर जो प्रतिमा उत्कीर्ण है वह वि० सं० ११३४ की है। इससे क्या यह नहीं कहा जा सकता है कि वहाँ पर बहुत पहले से दिगम्बर जैन मन्दिर थे ? पं० लालचन्द जी ने लिखा है कि "सर्वतोभद्र मन्दिर की मूर्तियों को कारणवशात् कुछ श्वेताम्बर जैनों ने कुछ वर्ष हुए वहाँ से उठा कर बड़ौदे के दादा पार्श्वनाथ के मन्दिर में स्थापन कर दिया और उसके बाद उक्त श्वेताम्बर मन्दिर को दिगम्बर जैनों ने दिगम्बर-मन्दिर बनाकर अपने अधिकार में कर लिया।" परन्तु हमारी समझ में यह ठीक नहीं मालूम होता। पं० लालचन्द जी बड़ौदे में रहते हैं। पावागढ़ वहाँ से समीप है। परन्तु जान पड़ता है उन्होंने स्वयं वहाँ जाकर कोई जाँच-पड़ताल नहीं की और अनुमान से ही उक्त निर्णय दे दिया है।

ऐसे अनेक स्थान और तीर्थ हैं जहाँ दोनों सम्प्रदायों के मन्दिर सैकड़ों-हजारों वर्षों से चले आये हैं। तब यह क्यों न माना जावे कि पावागढ़ में दिगम्बर मन्दिर भी पहले से ही थे ?

मंत्रीवर तेजपाल का समय ऐसा नहीं था कि दिगम्बर-श्वेताम्बर एक स्थान पर प्रेमभाव से न रह सकते हों। उसके पहले और बाद में भी भी गुजरात में दिगम्बर-सम्प्रदाय रहा है और उसके धर्मस्थान रहे हैं, इसके सैकड़ों प्रमाण दिये जा सकते हैं, भले ही उसके अनुयायी श्वेताम्बरों की अपेक्षा धन-बल और जन-बल में कम रहे हों।

पावागढ़ से लगभग ४२ मील उत्तर की ओर गोधरा नामका नगर है। पूर्वकाल में

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

यह स्थान बहुत विशाल और समृद्ध था। वहाँ चालुक्यनरेश कृष्ण के राज्य-काल में माथुरसंघ के आचार्य अमरकीर्ति ने वि० सं० १२७४ में 'छक्कम्मोवएस' (षट्कर्मोपदेश) नामक अपभ्रंश भाषा के ग्रन्थ की† रचना की थी। इस ग्रन्थ में वहाँ के ऋषभ जिनेश के विशाल जैन मन्दिर का उल्लेख है—

रिसहो जिणेसहो तहि चेईहरु, तुंगु सहासोहिउ णं ससहरु।
दंसणेण जसु दुरिउ विलिज्जइ, पुण्णहेउ जं जणि मणिज्जइ।

अर्थात् वहाँ ऋषभ जिनेश का ऊँचा, सभा से शोभित और चन्द्रमा जैसा 'चैत्यगृह' था जिसके दर्शन से पाप विलीयमान हो जाते हैं और जिसे लोग पुण्य का हेतु मानते हैं।

गोधरा के जिस राजा घूघुल को तेजपाल मंत्री ने पराजित किया था, वह संभवतः अमरकीर्ति-लिखित चौलुक्य कृष्णराज का ही उत्तराधिकारी था। इस विजय के बाद ही तेजपाल ने गोधरा में अजितनाथ का मन्दिर निर्माण कराया था और फिर उसके बाद पावागढ़ जाकर सर्वतोभद्र। जिस समय मंत्री तेजपाल ने गोधरा में श्वेताम्बर मन्दिर निर्माण कराया उस समय जिस तरह वहाँ ऋषभजिनेश का दिगम्बर-मन्दिर मौजूद था उसी तरह क्या यह असंभव है कि पावागढ़ में भी सर्वतोभद्र जिनालय के पहले कोई दिगम्बर-मन्दिर रहा हो? खास कर के पाँचवें फाटक के बाद की उस भीत में उत्कीर्ण सं० ११३४ की प्रतिमा का खयाल रखते हुए।

पावागढ़ की तलैटीका विशाल नगर चाँपानेर जब बरबाद हो गया, अनेक राजनीतिक उथल-पुथल होने के कारण जब वहाँ कोई न रहा, तब यह स्वाभाविक है कि वहाँ के मन्दिर खण्डहरों में परिणत हो जायँ और कुछ लोग प्रतिमाओं को भी अपने साथ ले जायँ। श्वेतांबरों समान दिगम्बरों ने भी यही किया होगा। गरज यह कि पावागढ़ को उस समय दोनों ने ही छोड़ दिया होगा और मन्दिर दोनों के पड़े रहे होंगे।

इसके बाद ऐसा जान पड़ता है कि श्वेताम्बर भाइयों ने तो उक्त स्थान को बिल्कुल भुला दिया, परन्तु दिगम्बर नहीं भूले और वि० सं० १९३७ में भट्टारक कनककीर्ति की दृष्टि इस ओर गई और उनके उपदेश से दिगम्बर-मन्दिरों के उद्धार का प्रारंभ हो गया। बहुत कर के कनककीर्ति जी ईडर की गद्दी के भट्टारक थे।

अब से लगभग २७ वर्ष पहले सन् १९१२ के मार्च महीने के अन्त में मैंने पावागढ़ की यात्रा की थी। उस समय मैंने अपनी यात्रा का विवरण जैनहितैषी (भाग ९, अंक १२)

† इस ग्रन्थ का परिचय प्राप्त करने के लिए जैन सिद्धान्त भास्कर भाग २ अंक ३ में प्रो० हीरालाल जी जैन का 'अमरकीर्तिगणि और उनका षट्कर्मोपदेश' शीर्षक विस्तृत लेख पढ़िये!

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

में प्रकाशित किया था। उसके नीचे लिखे अंश को पढ़कर पाठक देख सकते हैं कि उस समय भी मुझे यह भास हुआ था कि उक्त स्थान पर पहले श्वेताम्बर मन्दिर रहे होंगे और इस बात को मैंने छुपाया नहीं था।

"छाशिया तालाब के मार्ग में दाहिनी ओर एक जैन मन्दिर है—इसकी नये सिरे से मरम्मत की गई है। इसमें जो मुख्य प्रतिमा है वह जीर्णोद्धार करानेवाले ने सं० १९६७ में स्थापित की है। शेष दो प्रतिमायें पुरानी हैं। एक तो संवत् १६४२ माघ सुदी ७ सोमवार को वादिभूषण गुरु के उपदेश से प्रतिष्ठित हुई है और दूसरी सं० १५४८ की प्रसिद्ध प्रतिमा प्रचारक जीवराज पापड़ीवाल की प्रतिष्ठा कराई हुई है। दूसरा एक मन्दिर और भी पास में है। उसकी मरम्मत की गई है। उसमें एक काले पाषाण की प्रतिमा है। वह सम्वत् १६६२ की है। वादिभूषण भट्टारक ने उसकी भी प्रतिष्ठा कराई थी। प्रतिष्ठा करानेवाले अहमदाबाद के एक हूमड़ श्रावक थे ··· पर्वतपर सब मिलाकर १० जीर्ण मन्दिर हैं, इनमें से तीन का तो जीर्णोद्धार हो गया है और एक की मरम्मत की गई है—शिखर बाकी है। तीसरा या चौथा मन्दिर दाहिनी तरफ धराशायी हो रहा है। इसे हमने भीतर घुस कर देखा तो मालूम हुआ कि गर्भालय की दो चोखटों पर तो गणेश की मूर्तियां हैं और उत्तर तरफ की बाहरी दीवाल पर जो तीन मूर्तियाँ हैं वे श्वेताम्बर-सम्प्रदाय की हैं। उनकी भुजाओं में बाजूबन्द और हाथोंमें कंकण हैं। आसन में हाथी का चित्र है। इसके आगे एक विराट् मन्दिर धाराशायी हो रहा है। इसमें नन्दीश्वर द्वीप के समान चारों ओर ५२ जिनालय थे। इसी जगह सेठ चुन्नीलाल हेमचन्द ज़रीवाले ने मन्दिर बनवा कर वीरनि० सं० २४३७ में प्रतिष्ठा कराई है। आगे बड़े मन्दिर के सामने एक छोटी सी देहरी है। यह अभी हाल ही बनी है। इसमें जो चरण हैं उनकी स्थापना सं० १९६७ में हुई है। इस देहरी की पीठ पर कहीं का एक पुराना पड़ा हुआ पत्थर जड़ दिया गया है जिसमें ऋद्धि-सिद्धि-युक्त गणेशजी की मूर्ति है। ···बड़े मन्दिर में बड़ी प्रतिमा और कई छोटी-छोटी प्रतिमायें परंढा (शोलापुर) निवासी सेठ गणेश गिरिधर की हैं और तीन जो पुरानी हैं वे क्रम से १६४५, १६६५ और १६६९ की हैं। यह मन्दिर बहुत विस्तार में था और प्राचीन मालूम होता है। मरम्मत केवल बीचके भाग की करली गई है। इसके पास ही दो मन्दिर और थे जिनमें से एक का तो मकान-सा बना लिया गया है—इस समय उसमें पर्वत के मन्दिरों की पूजा करनेवाले पुजारी रहते हैं और एक बिल्कुल नाम शेष है—दालान यों ही पड़ी है। मन्दिर के पास ही तालाब है।

"यहाँ से कालिका की टोंक पर चढ़ना होता है। ···इसकी सीढ़ियों में जो पत्थर लगाया गया है वह पहाड़ पर से ही संग्रह किया गया है। यह देख कर हमें खेद हुआ कि इन

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

सीढ़ियों में मामूली पत्थर समझ कर छह-सात जैन मूर्तियाँ लगा दी गई हैं। ये मूर्तियाँ बहुत करके श्वेताम्बर-सम्प्रदाय की हैं, क्योंकि उनमें लंगोट का चिह्न दिखाई देता है।

"यद्यपि इस समय पर्वत पर कोई श्वेताम्बर मन्दिर नहीं है और श्वेताम्बर-सम्प्रदाय के यात्री भी यहाँ नहीं आते हैं तो भी मालूम होता है कि यहाँ पर पहले श्वेताम्बर मन्दिर अवश्य रहे होंगे और ये प्रतिमायें उन्हीं मन्दिरों की होंगी। पावागिरि को श्वेताम्बर-सम्प्रदाय में मालूम नहीं कि सिद्धक्षेत्र माना है या नहीं।"

इतने समय के बाद श्री नाहटाजी और पं० लालचन्दजी गाँधी की कृपा से यह मालूम हुआ कि पावागढ़ सिद्धक्षेत्र न होने पर भी श्वेताम्बर-सम्प्रदाय का बहुत विख्यात तीर्थ रहा है और अब काल-महात्म्य से बिल्कुल नाम शेष हो चुका है।

खण्डहरों की दुर्दशा का पार नहीं रहता। वहाँ के कीमती से कीमती शिल्प-कला-पूर्ण पाषाणों का उपयोग लोग ऐसी बेदर्दी के साथ करते हैं कि देख कर जी रो उठता है। पावागढ़ के मन्दिरों के अवशेष का जिस तरह सीढ़ियों में उपयोग हुआ है उसी तरह और न जाने किन-किन कामों में हुआ होगा। उपयोग करनेवालों की नजर में तो वे एक मामूली पत्थर से ज्यादा महत्त्व नहीं रखते।

ऐसा मालूम होता है कि दिगंबर श्वेतांबर मन्दिरों के साथ-साथ पावागढ़ पर हिन्दू-मन्दिर रहे होंगे जिनमें की गणेश की मूर्तियों का उपयोग जैन-मन्दिरों का जीर्णोद्धार करानेवालों ने भी किया है।

यह संभव है कि दिगंबर जैन-मन्दिरों का जीर्णोद्धार करनेवालों ने श्वेतांबर मन्दिर के पत्थरों का भी उपयोग किया हो, परन्तु यह निश्चय है कि श्वेतांबर-प्रतिमाओं का उपयोग न किया होगा, क्योंकि श्वेतांबर-प्रतिमा सहज में ही दिगंबर नहीं बनाई जा सकती।

—नाथूराम प्रेमी

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

लक्ष्मण कवि-कृत

अणुव्रत-रत्न-प्रदीप

(तेरहवीं शताब्दि की एक अपभ्रंश रचना)

[लेखक—श्रीयुत प्रो० हीरालाल जैन, एम०ए०, एल०एल० बी०]

१, पोथी-परिचय

'अणुवय-रयण-पईव' (अणुव्रत-रत्न-प्रदीप) की जो प्रति मुझे प्राप्त हुई है वह ११″ × ५″ आकार के ११० कागज के पत्रों पर समाप्त हुई है। नीचे ऊपर, दांये बांये १ इञ्च का हांसिया छोड़कर प्रत्येक पृष्ठ पर कहीं १० और कहीं ११ पंक्तियाँ हैं। प्रत्येक पंक्ति में लगभग ४२ अक्षर हैं। पत्रों के बीच में, पुरानी रीति के अनुसार, कुछ स्थान छूटा हुआ है। कागज पुराना होने से कहीं-कहीं पत्र बीच-बाच में फट गये हैं जिससे कितने ही अक्षर नष्ट हो गये हैं। मूल प्रति १०९ में पत्र पर समाप्त हो गई है। उसका अन्तिम वाक्य है 'संवत् १५७५ वर्षे श्रावण शुदि ३ शनौ'। यह स्पष्टतः प्रति के लिखे जाने का समय है। ११० वां पत्र पीछे से जोड़ा हुआ है और वह दूसरे हाथ का लिखा हुआ है। उसमें कहा गया है कि यह शास्त्र मेडता शुभस्थान पर, परमालदेव राठौड़ के राज्य में, खंडेलवालान्वय के पाटणी-गोत्र के एक सज्जन हेमराज ने संवत् १५९५ वैशाख शु० २, सोमवार को लिखाकर, मूलसंघ, सरस्वती गच्छ, बलात्कार गण, कुन्दकुन्दान्वय के मुनि पुण्यकीर्ति को पठनार्थ प्रदान किया*।

---

* संवत् १५९५ वर्षे बइसाष सु० द्वइज सोमवासरे श्रीमूलशंघे सरस्वती गछे वलात्कारगणे श्रीकुन्दकुन्दाचार्यान्वये भटारक श्री पद्मनंदि देवा। तत्पटे भटारक श्री शुभचन्द्रदेवा। तत्पटे भटारक श्री जिणचंद्रदेवा। मुनि मंडलाचार्य श्रीरत्नकीर्तिदेवा। ततसिद्ध मुनि मंडलाचार्य श्री हेमचंद्रदेवा। द्वितीय सिद्ध मुनि मंडलाचार्य श्री भुवनकीर्तिदेवा। तत्सिद्ध मुनि पुणयकोर्ति। मेडता सुभस्थानात्। राजश्री मालदे राठउड राजे। षंडेलवालान्वये, पाटणी गोत्रो। संघभारधुरिधरान् साह दोदा। तस्य भार्य्या शीलतरंगिणी धवसिरि। तत्पुत्र प्रथपुत्र साह तीकउ प्रथ भार्य्या तिहुण श्री तत्पुत्र पंच। प्रथम पुत्र सीहा भार्य्या श्रीयादे। तत्पुत्र मोना भार्या महणश्री। द्वितीय पुत्र लाला। त्रितीय पुत्र थिरपाल। चतुर्थ पुत्र धर्म्मदास। सा० सीहा द्वितीय स्त्री सिंगारदे। दुतीय पुत्र शाह दसू। भार्या दशरदे। तत्पुत्र ठाकुर। तित्रीय पुत्र दान् भार्या दाडिमदे पुत्र नानिग। चतुर्थ पुत्र दूलह भार्या दूलहदे पुत्र करमसी। पंचमपुत्र मेघराज भार्या मेघश्री सा० तीकउ द्वतीय भार्या लाछि तत्पुत्र हेमराज। इदं सास्त्रं अणोव्रत रत्न-प्रदीपकं लिषावितं कर्म्म क्षय-निमति।

ज्ञानवान् ज्ञानदानेन निर्भयोऽभयदानतः।
अन्नदानात्सुषी नित्यं निर्व्याधी भेषजा भवेत॥
तैलं रक्षं जले रक्षं रक्षं सिट्टल-बंधनं।
मूर्ष हस्ते न दातव्यं येवं वदति पुस्तकं॥

मुनि पुणकीर्तिस्य दातव्यं पट्टनार्थं लेषक पाठुक शुभं भवत॥छ॥

(यह प्रशस्ति यहां मूल से विना किसी संशोधन के दी गई है। विद्वान् पाठक सहज ही भावार्थ और त्रुटियों को समझ सकते हैं।)

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

इस अन्वय की गुरु-परम्परा इस प्रकार दी है—

भट्टा० पद्मनन्दि
|
, शुभचन्द्र
|
,, जिनचन्द्र
|
मुनि मंडलाचार्य रत्नकीर्ति
|
मुनि मं० हेमचन्द्रदेव
|
मु० मं० भुवनकीर्तिदेव
|
मुनि पुण्यकीर्ति (सं० १५९५)

हेमचन्द्रदेव और भुवनकीर्तिदेव दोनों रत्नकीर्त्तिजी के शिष्य, अतः परस्पर गुरु भाई थे जो एक दूसरे के पश्चात् पट्टाधीश हुए होंगे। प्रशस्ति में ग्रन्थ-दाता हेमराज के कुटुम्ब के अनेक स्त्री-पुरुषों का नामोल्लेख है।

२. ग्रन्थ-रचना का विवरण

ग्रंथ की उत्थानिका में कवि ने ग्रंथरचना का विवरण इस प्रकार दिया है :—

जमुना नदी के उत्तर तट पर 'रायवद्दिय' नाम की महानगरी थी। वहां 'आहवमल्लदेव' नाम के राजा राज्य करते थे। वे चौहान वंश के भूषण थे। उन्होंने 'हम्मीर वीर' के मन के शूल को नष्ट किया था। उनकी महासती और महारूपवती पट्टरानी का नाम 'ईसरदे' था।

उसी नगर में 'कविकुल-मण्डन' सुप्रसिद्ध कवि 'लक्खण' भी रहते थे। एक दिन रात्रि को वे प्रसन्नचित्त होकर शय्या पर लेटे थे, कि उनके हृदय में विचार उठा कि मुझ में उत्तम कवित्त्व-शक्ति है, *विद्याविलास* है, *पर सब व्यर्थ जा रहा है*, न उसे कोई जानता न सुनता। अशुभ कर्मों में मेरी परिणति लगी रहती है जिसके फलस्वरूप आगे मुझे दुःख भोगना पड़ेगा। इधर मेरी कवित्व-शक्ति नित्य क्षीण हो रही है। अब कोई ऐसा उपाय करना चाहिये जिससे कुछ धर्मार्जन होवे। ऐसा विचार करते-करते बहुत रात्रि व्यतीत होने पर कवि को गाढ़ी निद्रा आ गई। तब स्वप्न में उन्हें शासन-देवता ने दर्शन दिया और कहा 'हे शुद्ध-स्वभाव, कवि-कुल-तिलक, जिन-धर्म-रसाय-पान-तृप्त, तुम धन्य हो जो तुम्हारी ऐसी चित्तवृत्ति हुई। अब तुम्हें जो चिन्ताक्लेश व्याप रहा है उसे छोड़ दो और मन में दृढ़ संकल्प कर लो। आहवमल्ल राजा के जो प्रधान महामन्त्री 'कण्हड' हैं वे बड़े गुणग्राही, धर्मिष्ठ, सम्यक्त्वी आसन्नभव्य हैं, श्रावकों के व्रतों को पालते हैं और गर्वरहित हैं,

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

वे तुम्हारे मन के संशय (चिन्ता) को दूर करेंगे और तुम्हारे कवित्व को प्रकाशित करेंगे। अब तुम मन में आलस न लाओ और इस कार्य में मन्दता मत दिखाओ। उनके नाम से श्रावक-व्रतों का विस्तार से वर्णन करनेवाला एक काव्य रचो।'

ऐसा कह कर और कवि के मन की बड़ी भारी चिन्ता को दूर कर के अंबादेवी चली गई। प्रातःकाल उठ कर जिन-वन्दना के पश्चात् कवि के मन में वही रात्रि के स्वप्न की बात झूलने लगी। उन्होंने देवी की प्रेरणा के अनुसार काव्य रचने का निश्चय कर लिया और मन में विचारा 'इस महीतल पर धन्य है वह जिसके नाम पर अब मैं काव्य रचना करता हूं।'

एक दिन महामन्त्री 'कण्ह' किसी पश्चात्ताप से जिन-मन्दिर में बैठे थे। उसी समय 'लक्खण' कवि भी वहां जा पहुंचे और उनसे अपना रात्रि का स्वप्न कहा। तब 'कण्ह' ने बड़ी भक्ति-सहित उनसे सागारधर्म पूछा। उत्तर में कवि ने विस्तार से उन्हें श्रावकधर्म सुनाया जो कि शेष ग्रन्थ का विषय है।

३ राजवंश व कवि के आश्रयदाता

कवि ने अपने समय के राजवंश का भी उल्लेख किया है। ऊपर कह आये हैं कि कवि, रायवद्दिय नामक एक महानगरी के निवासी थे। यह नगरी जमुना नदी के उत्तर तट पर स्थित थी। यहां कवि के समय अर्थात् वि० सं० १३१३ (ई० स० १२५७) में चौहानवंशी राजा आहवमल्ल राज्य करते थे। उनकी पट्टरानी का नाम 'ईसरदे' था। आहवमल्ल ने म्लेच्छों अर्थात् मुसलमानों से भी टक्कर ली और विजय पाई तथा किसी 'हम्मीर वीर' की कुछ सहायता भी की थी। संभव है ये 'हम्मीर वीर' संस्कृत के हम्मीर काव्य तथा हिन्दी के हम्मीर रासो आदि ग्रंथों के नायक 'रणथंभोर' के राजा हम्मीरदेव ही हों। अलाउद्दीन खिलजी द्वारा रणथंभोर की चढ़ाई का समय सन् १२९९ ई० माना जाता है। इसी युद्ध में 'हम्मीरदेव' मारे गये थे। वर्तमान उल्लेख और इस लड़ाई के बीच ४२ वर्ष का अन्तर पड़ता है। यह अन्तर एक ही व्यक्ति के जीवनकाल के लिये कुछ असम्भव नहीं है।

आहवमल्ल की वंश-परम्परा कवि ने जमनातट के 'चंदवाड' नगर से बतलाई है। वहाँ पहले चौहानवंशी राजा भरतपाल हुए, उनके पुत्र अभयपाल, उनके जाहड, उनके श्रीबल्लाल और उनके आहवमल्ल। अनुमान होता है कि आहवमल्ल के समय में या उनसे पूर्व राजधानी 'रामवद्दिय' हो गई थी। या यहां 'चंदवाड' वंश की एक शाखा स्थापित हुई होगी। दोनों नगर जमना तट पर ही थे और पास-पास ही रहे होंगे। प्रस्तुत समय में देश के इस विभाग पर चौहानवंशियों का राज्य था यह सुविख्यात है। पर प्रकाशित वंशावलियों में उक्त राजाओं के नाम नहीं पाये जाते। यह कोई शाखावंश रहा होगा।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

उक्त राजवंश के साथ-साथ ही कवि के आश्रयदाता 'कण्ह' के वंश का परिचय कराया गया है। यह वणिक्-वंश था और इसका राजवंश से बहुत घनिष्ठ संबंध था। उसी 'चंदवाड' नगर में लंबकंचुक अर्थात् लंबेचू-कुल में 'हल्लण' नगरसेठ हुए जो बड़े राजप्रिय और लोकप्रिय थे। उनके पुत्र अमृतपाल (अमयवाल) हुए। वे भी राजमान्य और अभयपाल राजा के प्रधान मन्त्री थे। उन्होंने एक बड़ा विशाल और भव्य जिनमन्दिर बनवाया जिसपर सुवर्ण कलश चढ़ाया। उनके पुत्र 'सोढु' साहु हुए जो 'जाहड' नरेन्द्र और उनके पश्चात् फिर 'श्रीबल्लाल' के मंत्री बने। 'सोढु' साहु के दो पुत्र हुए—प्रथम रत्नपाल, और दूसरे 'कण्हड' जिनकी माता का नाम 'मल्हा' (मल्हादे) था। ये बड़े धर्मिष्ठ और सदाचारी थे। रत्नपाल बड़ी स्वतन्त्र और निरर्गल प्रकृति के थे, पर उनके पुत्र 'शिवदेव' बड़े कलावान्, विद्यावान् और कुशल हुए। अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् नगरसेठ के पद पर वे ही विराजमान हुए और आहवमल्ल राजा ने अपने हाथ से उनका तिलक किया। उनके काका 'कण्हड' आहवमल्ल राजा के मंत्री हुए। उनकी धर्मपत्नी 'सल्लक्षणा' बड़ी रूपवती, धर्मवती और गुणवती थीं। उनके दो पुत्र हुए 'हरिदेव' और 'द्विजराज'। पूर्व कथनानुसार 'कण्हड' की प्रार्थना से ही कवि ने प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना की। यह ग्रन्थ उन्ही को समर्पित किया गया है। प्रत्येक सन्धि की पुष्पिका में कवि ने इसे 'कण्हाइच्च णामांकिय' अर्थात् 'कृष्णादित्य-नामाङ्कित' कहा है, जिससे यह भी ज्ञात होता है कि 'कण्ह' या 'कण्हड' का पूरा और शुद्ध नाम 'कृष्णादित्य' था।

उक्त विवरण पर से जमुना-तटवर्ती 'चंदवाड' नगर के चौहान राजवंश व तत्स्थानीय एक लंबेचू कुल का परम्परागत सम्बन्ध इस प्रकार स्पष्ट होता है—

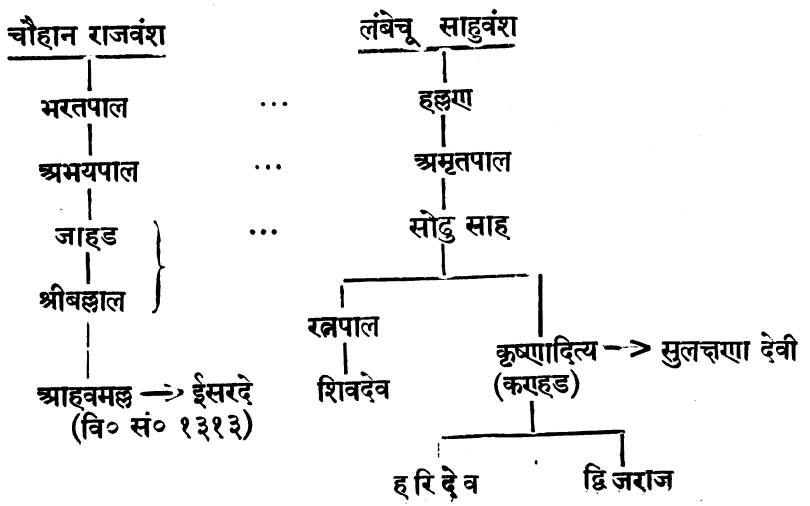

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

४ रायवद्दिय और चन्दवाड नगर

ऊपर कह आये हैं कि कवि लक्ष्मण रायवद्दिय नगर के निवासी थे जहाँ चौहान वंशी राजा का राज्य था। सामान्य खोज से मालूम हुआ है कि आगरा फोर्ट से बांदीकुई जानेवाली रेलवे पर एक रायभा (Raibha) नाम का स्टेशन है। यह जमना के उत्तर तट पर ही है। इसी का प्राचीन नाम संभवतः रायभद्र या रायभद्री होगा जो रायवद्दिय में परिवर्तित होकर अब रायभा हो गया है।

चंदवाड के सम्बन्ध में मेरे सुहृदवर पं० नाथूरामजी प्रेमी ने सूचित किया कि गुजराती में पं० जयविजय कृत संमेत-शिखर-तीर्थमाला नाम की एक पुस्तक है जो प्राचीन तीर्थमाला संग्रह, प्रथम भाग, में छपी हुई है। इसमें 'चंदवाडि' का उल्लेख आया है जो फीरोजाबाद (जिला आगरा) के समीप बतलाया गया है और कहा गया है कि वहां से सौकीपुर क्षेत्र तीन कोस पर है। यह पुस्तक सं० १६६४ को बनी हुई कही गई है। इसी तीर्थमाला-संग्रह में सौभाग्यविजय-कृत 'तीर्थमाला' संवत् १७५० की बनी हुई छपी है, उसकी पहली ढाल में लिखा है—

देहरा सरना देव जुहारी। फीरोजाबाद आया सुखकारी।
तिहां थी दक्षिण दिशि सुविचारी। गाउ एक भूमि सुखकारो।
चंदवाडि मांहि सुखदाता। चन्द्रप्रभु वन्दो विख्याता।
स्फटिक रतन नी मूरति सोहें। भविजनना दीठां मन मोहें।
ते वन्दी पोरोजाबाद आव्या जाणी मन आल्हाद।

फिर उसी की बारहवीं ढाल में कहा है—

सौरीपुर रलियामणो जनम्या नेमि जिणंद।
यमुना तटिनी ने तटे पूज्याँ होई अणंद॥
सौरीपुर उत्तर दिसें जमुना तटिनी पार।
चन्दनवाडी नाम कहे तिहां प्रतिमा छे अपार॥

इससे स्पष्ट है कि चंदवाड नाम का एक प्राचीन जैन तीर्थक्षेत्र जमना के तट पर फीरोजाबाद के निकट रहा है। जब मैं इसी की और भी जांच खोज कर रहा था तभी २२ सितम्बर, १९३८ के जैन सन्देश में मैंने पढ़ा—

चन्दवार (फीरोजाबाद) का मेला

....."यह चन्दवार क्षेत्र बहुत प्राचीन है। यहां पर ५१ प्रतिष्ठाएँ हो चुकी हैं।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

इस प्राचीन क्षेत्र का अभी जीर्णोद्धार हो रहा है। फीरोजाबाद के श्री १००८ चन्द्रप्रभु जी की अतिशय मूर्ति इसी क्षेत्र की जमुना नदी से निकली है। और भी प्रतिमायें समय-समय पर निकलती रहती हैं।"

इससे स्पष्ट हो गया कि उक्त उल्लेखों की चंदवाडी यही चन्द्रवार है, और निस्सन्देह यही प्रस्तुत ग्रन्थ का चंदवाड नगर है।

५. कवि तथा काव्य-परिचय व रचना-काल

ऊपर ग्रन्थ-रचना-विवरण में कह आये हैं कि इस ग्रन्थ के कर्ता 'लक्खण' (लक्ष्मण) कवि हैं, और वे जमुना नदी के तटवर्ती 'रायवद्दिय' नगर के निवासी थे। सन्धि-पुष्पिकाओं तथा अन्तिम प्रशस्ति में उन्होंने अपने पिता का नाम 'साहुल' और माता का 'जइता' प्रकट किया है और यह भी कहा है कि उनका कुल 'जायस' था, अर्थात् उनके पूर्वज जायस नगर से आये थे और इस लिये वे जायसवाल या जैसवाल थे।

अन्तिम प्रशस्ति में कवि ने अपनी रचना का प्रमाण आदि भी स्पष्टतः बतला दिया है। इस काव्य में भिन्न-भिन्न प्रकार के २०६ पद्धडिया छंद हैं जिनकी ३२ अक्षरी कुल ग्रन्थ-संख्या ३४०० है, तथा बड़े बड़े आठ सर्ग हैं। इसकी रचना में कवि को क्रम-क्रम से नौ मास लगे, और ग्रन्थ विक्रम संवत् १३१३ कार्तिक कृष्ण ७, दिन गुरुवार को, अष्टम अर्थात् पुष्य नक्षत्र और 'साहिज्ज' योग में समाप्त हुआ। इस प्रकार यह ईस्वी सन् १२५७ की रचना है।

ग्रंथ का विषय अणुव्रतों अर्थात् गृहस्थ धर्म का वर्णन है जिसका पूर्ण परिचय अगले लेख में कराया जायगा।

ऊपर के समस्त वृत्तान्त के आधारभूत अवतरण अनुवाद-सहित परिशिष्टों में देखिये।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

परिशिष्ट १

अणुवय-रयण-पईव

प्रारम्भ—

णत्तूण जिणे सिद्धे आयरिए पाढए य पव्वइदे ।
अणुवय-रयण-पईवं सत्थं वुच्छे णिसामेह ॥

× × ×

इह जउणा-णइ-उत्तर-तडत्थ महु णयरि रायवड्डिअ पसत्थ ।
धण-कण-कंचण-वण-सरि-समिद्ध दाणुण्णयकर-जण-रिद्धिरिद्ध ।
किम्मीर-कम्म-णिम्मिय रवण्ण सट्टल सतोरण विविह-वण्ण ।
पंडुर-पायारुण्णइ समेय जहि सहहिं णिरंतर सिरिनिकेय ।
चउहट्ट चच्चरुद्दाम जत्थ मग्गण-गण-कोलाहल-समत्थ ।
जहिं विवणे विवणे घण कुप्पभंड जहि कसिअहिं णिच्च पिसंडि खंड ।
णिच्चिच्च-दाण-संमाण-सोह जहिं वसहि महायण सुद्धबोह ।
ववहार चार सिरि सुद्ध लोय विहरहि पसण्ण चउवण्ण लोय ।
जहिं कणयचूड-मंडण-विसेस सिंगार-सार-कय-निरवसेस ।
सोहग्ग-लग्ग-जिण-धम्म-सील माणिणि-णिय-पइ-वय-वहण-लील ।

अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधुओं को नमस्कार करके अणुव्रत-रत्न-प्रदीप शास्त्र की व्याख्या करता हूं, सुनो।

× × × ×

यहां जमुना नदी के उत्तर तट पर स्थित एक 'रायवड्डी' नाम की प्रशस्त महानगरी है। वह धन, कन, कांचन, वन, सरित् से समृद्ध है, दान में ऊँचा हाथ करनेवाले जनों की ऋद्धि से सम्पन्न है, पचरंगी काम से रची हुई, रमणीक, अट्टालिकाओं और तोरणों सहित विविध-वर्ण है, सफेद और ऊँचे उसके प्राकार हैं, वहाँ निरंतर श्रीनिकेत शोभायमान हैं। बड़े बड़े चौहट्ट और चौराहे वहां याचक-गणों के कोलाहल से भरे हैं, जहाँ दूकान-दूकान में बहुत से काँसे पीतल आदि के भांड हैं, जहाँ नित्य सुवर्ण-खण्ड कसे जाते हैं। जहाँ नित्य इच्छादान सम्मान से सुशोभित समझदार महाजन बसते हैं। व्यवहार, में आचार में शुद्ध दृष्टि रखने वाले चारों वर्णों के लोग जहाँ प्रसन्नता से विहार करते हैं, जहाँ सुवर्ण के खूब चूड़ा अलंकार पहने, पूरा-पूरा शृङ्गार किये, सौभाग्य में लीन, जिन-धर्म के अनुसार शील पालने-वाली महिलायें अपने पतिव्रत-धर्म को आनन्द से धारण करती हैं।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

जहि पवण-पऊरिय-पवण-साल णायर-णरेहिं भूसिय विसाल ।
थिय जण (जिण) बिंबुज्जल जणिय-सम्म कूडग्ग-धयावलि-रुद्ध-घम्म ।
चउसालुण्णय-तोरण-सहार जहिं सहहिं सेय सोहण विहार ।
जहिं दविणंगण बहि-पेम-छित्त लावण्ण-पुण्ण-धण-लोल-चित्त ।
जहिं चरड चाड कुसुमाल भेड दुज्जण सखुद्द खल पिसुण पड ।
ण वियंभहिं कहि मि न धणविहीण दविणड्ढ णिहिल णर धम्मलीण ।
पेम्माणुरत्त परिगलिय-गव्व जहिं वसहिं वियक्खण मणुव सव्व ।
वावार सव्व जहिं सहहिं णिच्च कणयंबर-भूसिय राय-भिच्च ।
तंबोल-रंग-रंगिय-धरग्ग जहिं रेहहिं सारुण सयल मग्ग ।
तहिं णरवइ आहवमल्ल एउ दारिद्द-समुद्दत्तरण-सेउ ।

घत्ता—उव्वासिय-पर मंडलु दंसिय-मंडलु कास-कुसुम-संकास-जसु ।
छल-कुल-बल-सामत्थें णीइ-णयत्थें कवणु राउ उवमियइ तसु ॥ २ ॥

णिय-कुल-कइरव-वण-सिय-पयंगु गुण-रयणाहरण-विहूसियंगु ।
अवराह-वलाहय-पलय-पवणु महु-माग-गण-पडिदिण्ण-तवणु ।

जहाँ प्राज्ञ पुरुषों से भरी हुई विशाल पुण्यशाला नागरिक नरों से विभूषित है, वहाँ जिन-बिम्बों से उज्ज्वल, सुख उत्पन्न करनेवाले, मन्दिरों के शिखर स्थित थे जो अपनी ध्वजावलि से सूर्य के आताप को रोक रहे हैं। जहाँ ऊँची चतुःशालायें तोरण और हारों से संयुक्त है और श्वेत रमणीक विहार शोभायमान हो रहे हैं। जहाँ लावण्यपूर्ण, धन-लोलचित्त द्रविणांगनाएँ (वारांगनाएँ) बाहिरी प्रेम में लिप्त है। जहाँ लम्पट, कपटी, चोर, भीरु, दुर्जन, क्षुद्र, खल, पिशुन, भांड कहीं दिखाई नहीं देते, न कोई धन-विहीन है, सब लोग धनी और धर्म में लीन हैं। जहाँ सब मनुष्य प्रेम में अनुरक्त, गर्वरहित और विचक्षण बसते हैं। जहाँ राजा के नौकर नित्य सोने के जरीदार कपड़ों से भूषित सब कारबार करते हैं। जहाँ घराग्र ताम्बूल-रंग से रंगे होने के कारण सब मार्ग लाल वर्ण के शोभायमान हो रहे हैं। वहाँ के राजा आहवमल्लदेव हैं जो दारिद्र्यरूपी समुद्र से तारने के लिये सेतु-समान हैं, जो शत्रु-मण्डल को बीरान करनेवाले और अपने मण्डल को प्रकट करनेवाले हैं, जिनका यश काश के फूल सदृश धवल है। छल, कुल, बल और सामर्थ्य में, नीति और नय के अर्थ में कौन राजा से उसकी उपमा हो सकती है ? अपने कुलरूपी कुमुदिनी-वन के लिये चन्द्रमा के समान हैं, गुणरूपी रत्नों के आभरणों से उनका अंग विभूषित है, अपराधरूपी मेघों के लिये वे प्रलय-पवन हैं, बड़े बड़े मागध-गणों को जिन्होंने तपनीय अर्थात् सुवर्ण का दान दिया है,

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

दुव्वसण-सोस-णासण-पवीणु किउ अखलिय-सज्जस मयंकु सीणु ।
पंचंग-मंत-वियरण-पवीणु —
माणिणि-मण-मोहणु मयरकेउ णिरुवम-अविरल-गुण-मणि-णिकेउ ।
रिउ-राय-उरत्थल-दिण्ण-हीरू विसुमुरणय-समरे भिडंत वीरु ।
खग्गग्गि डहिय-पर-चक्क-वंसु विवरीय-बोह-माया-विहंसु ।
अतुलिय-बल खल-कुल-पलय-कालु पहु-पट्टालंकिय विउल-भालु ।
सत्तंग-रज्ज-धुर-दिण्णखंधु संमाण-दाण-पोसिय-सबन्धु ।
णिय-परियण-मण-मीमत्सण-दच्छु परिवसिय-पयासिय-केर कच्छु ।
करवाल-पट्टि-विप्फुरिय-जीहु रिउ-दंड-चंड-सुंडाल-सीहु ।
अइ-विसम-साहसुद्दाम-धामु चउसायरंत-पायडिय-णामु ।
णाणा-लक्खण-लक्खिय-सरीरु सोमुज्जव (ल) सामुद्दय-गहीरु ।
दुप्पिच्छ-मिच्छ-रण-रंग-मल्लु हम्मीर-वीर-मण-नट्ट-सल्लु ।
चउहाण-वंस-तामरस-भाणु मुणियइं न जासु भुय-बल-पमाणु ।
चुलसीदि-खंड-विण्णाण-कोसु छत्तीसाउह (प) यडण-समोसु ।

वे दुर्व्यसनरूपी रोग को नाश करने में प्रवीण हैं। उन्होंने अपने अस्खलित यश से चन्द्रमा को हीन कर दिया है। वे पंचांग मंत्र के विचार में प्रवीण हैं, मानिनी स्त्रियों के मन को मोहने में कामदेव ही हैं, और निरुपम, अविरल गुणरूपी मणियों के निकेत हैं। उन्होंने रिपु राजाओं के उरस्थल में चोट दी है। वे बड़े विषम समर में भिड़ने वाले वीर हैं। अपने खड्ग के अग्रभाग से उन्होंने शत्रु के चक्र (राजमण्डल) और वंश को ढा दिया है। वे विपरीत बोध (मिथ्यात्व) और माया के विध्वंसक हैं। वे अतुलित बलशाली हैं, खलों के कुल के प्रलयकाल हैं, उनका विपुल भाल राजपट्ट से अलंकृत है। सप्तांग राज्य के धुरे को सम्हालने में उन्होंने अपना कंधा दिया है, और सम्मान दान से अपने बंधुओं का पोषण किया है। अपने परिजनों के मन को मीमांसा करने (समझने) में वे दक्ष हैं। पड़ोसियों तथा प्रत्याश्रितों के कक्ष अर्थात् आश्रयदाता हैं। उनकी चौड़ी तलवार जीभ सी लपलपाती है, वे रिपु की सेना-रूपी प्रचंड सूंडवाले मत्त हाथी को सिंह के समान हैं। वे बहुत विकट साहस के उद्दाम स्तम्भ हैं। उनका नाम चारों समुद्रों के अन्त तक प्रकट है। उनका शरीर नाना लक्षणों म्लेच्छों से संयुक्त हैं। वे चन्द्रमा के समान ऋजु (उज्ज्वल) और समुद्र के समान गंभीर हैं। दुष्प्रेक्ष से युद्ध करने में वे मल्ल हैं, उन्होंने हम्मीर वीर के मन के शूल को नष्ट किया है। चौहान-वंशरूपी कमल के वे सूर्य हैं, जिनके भुजबल का प्रमाण जाना नहीं जाता। वे चौरासी खंड विज्ञान (कलाओं) के भाण्डार और छत्तीस आयुध चलाने में कुशल हैं।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

साहण-समुद्दु बहु रिद्धि-रिद्धु अरि-राय-विसहं संकरु-पसिद्धु ।
घत्ता—पालिय-खत्तिय-सासणु परबल-तासणु ताणु मंडल-उव्वासणु ।
महु-जस-पसर-पयासणु णव-जलहरसणु दुण्णय-वित्ति-पवासणु ॥३॥

तहो पट्ट-महापवी पसिद्ध ईसरदे पणयणि पणय-विद्ध ।
णिहिलंतेउर-मज्झपए पहाणु णिय-पइ-मणु-पेसण-सावहाणु ।
सज्जण-मणु-कप्प-महीय-साह कंकण-केऊरंकिय-सुबाह ।
छुण-ससि-परिसर-संपुण्ण-वयण मुक्क-मल कमल-दल-सरल-णयण ।
आसा-वंसंधुर-गइ-गमणु-लील बंदियण-मणासा-दाण-सील ।
परिवार-भार-धुर-धरण-सत्त मोयइं अंतरदल-ललिय-गत्त ।
छद्दंसण-चित्तासा-विसाम चउ-सायरंत-विक्खाय-णाम ।
अहमल्ल-राय-पय-भत्ति-जुत्त अवगमिय-णिहिल-विण्णाण-सुत्त ।
णिय-णंदणाहं चिंतामणीव णिय-धवलगिहह-सरहंसिणीव ।
परियाणिय-करण-विलास-कज्ज रूवेण जित्त-सुत्ताम-भज्ज ।
गंगा-तरंग-कल्लोल-माल समकित्ति-भरिय-ककुहंतराल ।

साधनों (अस्त्र-शास्त्रादि) के समुद्र और बहुत ऋद्धि से समृद्ध वे शत्रुराजा-रूपी वृषभों के शंकर हैं, अथवा विषों को पी जानेवाले शंकर प्रसिद्ध हैं। वे क्षत्रिय-शासन को पालनेवाले, शत्रु-बल को त्रास देनेवाले और उनके मंडल को उजाड़ करनेवाले, महान् यश के फैलाने वाले, नवीन जल के समान हर्षकारी और दुर्नीति वृत्ति को दूर करनेवाले हैं।

उनकी पट्ट महादेवी 'ईसरदे' प्रसिद्ध हैं जो उनकी स्नेहमयी प्रणयिनी हैं। वे समस्त अंतःपुर में प्रधान और अपने पति को प्रसन्न रखने में सावधान हैं। वे सज्जनों के मन के लिये कल्पवृक्ष हैं। वे अपनी सुन्दर भुजाओं को कंकण और केयूरों से सजाये रहती हैं। उनका प्रफुल्ल मुख पूर्णिमा के चंद्रबिंब के समान है और नयन निर्मल कमलदल के सदृश सरल हैं। दिग्गज हाथियों के समान उनकी सुन्दर गति है। बंदीजनों के मन की आशा को पूरी करने में वे दानशील हैं, वे अपने परिवार के कार्यभार को सम्हालने में आसक्त रहती हैं यद्यपि उनका शरीर केले के भीतरी दल के समान सुकोमल है। वे छहों दर्शनों के अनुयायियों की मनोकामना पूर्ण करती थी। चारों सागरों के अन्त तक उनका नाम विख्यात है। वे आहवमल्ल राजा के चरणों की भक्ति में लवलीन हैं। उन्होंने समस्त विज्ञान के सूत्रों का अध्ययन किया है। वे अपने पुत्रों के लिये चिंतामणि के समान और अपने धवलगृहरूपी सरोवर में हंसिनी के समान हैं। वे इन्द्रियसुख के कार्य (कामकला) को भी अच्छी तरह जानती हैं। रूप में उन्होंने इन्द्राणी कोभी जीत लिया है। गंगा की तरंगों की कल्लोल-माला के समान अपना कीर्ति से उन्होंने समस्त दिशाओं को भर दिया है।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

कलयंठि-कंठ-कल-महुर-वाणि गुण-गरुव-रयण-उप्पत्ति-खाणि ।
अरिराय-विसह संकरहो सिट्ठ सोहग्ग-लग्ग गोरि व्व दिट्ठ ।
घत्ता—तहिं पुरे कइ-कुल-मंडणु दुरणय-खंडणु मिच्छत्तहि ण जित्तउ ।
सुपसिद्धउ कइ लक्खणु बोह-वियक्खणु परमय-राय ण छित्तउ ॥४॥

एक्कहिं दिणे सुकइ पसण्ण-चित्तु णिसि सेज्जायले झायइ सइत्तु ।
महु बोह-रयणु घडगरुय-सरिसु बुहयण-भव्वयणहं जणिय-हरिसु ।
कर कंठ-करण पहिरण असक्कु णर-हर-मई तेण सजोरु थक्कु ।
महु सुकइत्तणु विज्जा-विलासु बुहयण-मुह-मंडणु साहिलासु ।
आणंद-लयाहरु अमियरोइ ण वि याणइ सुणइ ण इत्थ को वि ।
मइं असुह-कम्म परिणइ सहाउ उग्गमिउ सहिव्वउ दुह-विहाउ ।
एमेव कइत्तण-गुण-विसेसु परिगलइ णिच्च महु णिरवसेसु ।
केणुप्पाएं अज्जियइ धम्मु किज्जइ उवाउ इह भुवणे रम्मु ।
पाइयइ धम्म-माणिक्कु जेण सहसा संपइ सुद्धें मणेण ।
धम्मेण रहिउ नर-जम्मु वंझु इय चिंताउलु कइ-चित्तु रंझु ।

उनकी वाणी कोकिला के कंठ के समान मीठी है। अच्छे गुणरूपी रत्नों की तो वे खानि ही हैं। वे शत्रु राजाओं को असह्य शंकर की गौरी के समान श्रेष्ठ और सौभाग्यशील दिखाई देती हैं।

उसी नगर में सुप्रसिद्ध कवि लक्ष्मण भी हैं जो कवि-कुल के मण्डन और दुर्नय-खण्डन हैं, मिथ्यात्व से जीते नहीं गये, ज्ञान में विचक्षण और जिन्हें पर-मत के राग ने छुआ भी नहीं है।

एक दिन ये सुकवि प्रसन्नचित्त से शय्या पर लेटे हुए विचार करने लगे—मेरा ज्ञान-रत्न बड़े घड़े के सदृश भारी तथा विद्वानों और भव्यजनों को हर्ष उत्पन्न करनेवाला है। वह हस्त कंठ व कर्ण में पहना नहीं जा सकता। उसकी जोड़ में नर और हर की मति स्तब्ध रह जाती है।(?) मेरा सुकवित्व और विद्या-विलास बुधजनों के मुख के मण्डन होने की अभिलाषा रखता है, वह आनन्द का लतागृह और अमित कान्तिवाला है। पर उसे अभी यहां कोई जानता सुनता नहीं है। मैंने अशुभ कर्मों में अपनी स्वभाव-परिणति लगा रखी है जिसके उदय से मुझे दुःखविभाव सहना पड़ेगा। इस तरह मेरा यह विशेष कवित्वगुण नित्य सब बहा जा रहा है। किस उपाय से धर्मार्जन किया जाय ? इस भुवन में कोई सुन्दर उपाय करना चाहिये, जिससे अब जल्दी शुद्ध मन से, धर्मरूपी माणिक्य प्राप्त हो। धर्म से रहित नरजन्म निष्फल है।" इस प्रकार कवि अपने चित्त में चिन्ताकुल हुए।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

किं कुणमि पत्थ पयडमि उवाउ जें लब्भइ पुण्ण-पहाव-राउ ।
मणे झाइ झाणु सुह-वेल्लि-कंदु तहि दल-णिसाए णिद्दलिवि दंदु ।
अइ-णिब्भर-णिद्दाणंद-भुत्तु संवेइय-मणु जा सिज्ज सुत्तु ।
ता सुइणंतरि सुसमइ पसत्त जिण-सासण-जक्खिणि तम्मि पत्त ।
वाहरिउ ताइं हे सुह-सहाव कइ-कुल-तिलयामल गलिय-गाव ।
जिण-धम्म-रसायण-पाण-तित्तु तुहुं धण्णाउ परिसु जासु चित्तु ।
चिंता-किलेसु जं तुम्ह बप्प तं तज्जिवि सज्जहि मण-वियप्प ।
अहमल्ल-राय-महमंति सुद्ध जिण-सासण-परिणइ गुण-पवद्धु ।
कण्हडु कुल-कइरव-सेय-भाणु पहुणा समज्ज सव्वहं पहाणु ।
सम्मत्तवंतु आसण्ण-भव्वु सावय-वय-पालणु गलिय-गव्वु ।
घत्ता—सो तुम्हहं मण-संसउ जाणिय-दुहंसउ णिण्णासिहइ समुच्चउ ।
सुपयासिहइ कइत्तणु तुम्ह पहुत्तणु जिण-धम्मुज्जलु उच्चउ ॥५॥
इउ मुणेवि मणासि णिद्दलहि तंदु इह कज्जे म सज्जण होहि मंदु ।
तहो णामें विरयहि पयडु भव्वु सावय-वय-विहि-वित्थरण-कव्वु ।
इउ पभणेवि भंजिवि मण-महत्ति गय अंबादेवी णियय थत्ति ।
परिगलिय-विहावरि गोसे बुद्धु कइ लक्खणु संजम-सिरि-विसुद्धु ।

"क्या करूँ, यहाँ कौन सा उपाय प्रकट करूँ जिससे पुण्य-प्रभाव-राग का लाभ हो।" ऐसा सुखरूपी वल्ली की जड़-समान मन में ध्यान ध्याते हुए रात्रि के पश्चिम भाग में निर्द्वन्द्व होकर अपनी शय्या पर जब वे गहरी नींद में सो गये, तब स्वप्न में सद्धर्म में प्रसक्त रहनेवाली जिन-शासन यक्षिणी वहां आई और उन्होंने कहा—'हे, सुख-स्वभाव, कवि-कुल के निर्मल तिलक, गर्व-रहित, जिन-धर्म-रसायण के पान से तृप्त, तुम धन्य हो जिनका ऐसा चित्त हुआ। तुम्हें जो चिन्ता-क्लेश हुआ है, उसको त्यागकर मन में संकल्प कर लो। आहवमल्ल राजा के महामंत्री शुद्ध जिन-शासन में परिणति रखनेवाले, गुणों से भरपूर, कण्हड, अपने कुल-रूपी कैरव के चन्द्रमा, जिन्हें राजा ने सब में प्रधान बनाया है, जो सम्यक्त्ववान्, आसन्न-भव्य, श्रावक के व्रतों को पालनेवाले और गर्वरहित हैं, वे तुम्हारे इस दुविधाजनक मन के संशय को सर्वथा नाश करेंगे और तुम्हारे जैन धर्मोज्ज्वल, उच्च कविता के प्रभाव को अच्छी तरह प्रकाशित करेंगे। यह जानकर तुम मन की तन्द्रा को दूर करो। हे सज्जन, इस कार्य में अब मन्द मत होओ। उनके नाम से श्रावक-विधि का विस्तार बतलानेवाला एक उत्तम भव्य काव्य रचो।' ऐसा कहकर और उनके मन की चिन्ता को मिटा कर अंबादेवी अपने स्थान को गई। रात्रि बीतने पर संयम-रूपी लक्ष्मी से विशुद्ध कवि लक्ष्मण जागे।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

जिणु वंदिवि अज्जिवि धम्म-रयणु णिज्झायइ मणे सालसिय-णयणु ।
मुहु मुहु भावइ जं रयणि वित्तु अंबादेविए पभणिउ पवित्तु ।
तमलीउ ण हवइ कयावि सुण्णु महु मण-चिंतासा-धवणु पुण्णु ।
गंजोल्लिय-मणु लक्खणु वहूउ सीयरिउ कव्व-करणाणरूउ ।
णिय-घरे पत्तउ वण-गन्ध-हत्थि मयमत्तु फुरिय-मुहरुह-गभत्थि ।
वसि हुयउ स-सर दसदिसि भरंतु भणु को ण पडिच्छइ तहो तुरंतु ।
सुपसण्ण-राउ घरइं तवेइ भणु कवणु दुवार-कवाड देइ ।
अवमिय वयणलिणा चातुरंग धण-कण-कंचण-संपुण्ण चंग ।
घर समुह एंत पेच्छिवि सवारु भणु कवणु बप्प झंपइ दुवारु ।
चिंतामणि-हाडय-निवड-जडिउ पज्जहइ कवणु सइं हत्थ-चडिउ ।
घर-रंगुप्पण्णउ कप्परुक्खु जले कवणु न सिंचइ जणिय-सुक्खु ।
सयमेव पत्त घरु कामधेणु पज्जहइ कवणु कय-सोक्खसेणु ।
चारण-मुणि तेएं जित्त-भवइ गयणाउ पत्त किर को ण णवइ ।
पेऊस-पिंड करे पत्तु भव्वु को मुयइ निवे (इय)-जीवियव्वु ।

वे जिनदेव की वंदना और धर्मरत्न का अर्जन करके, शिथिल नयन होकर, मन में ध्यान करने लगे। रात्रि में जो वृत्तान्त हुआ था, उसकी बार-बार भावना करने लगे—'अंबादेवी ने जो पवित्र बात कही है वह कदापि असत्य व शून्य नहीं हो सकती, वह मेरी चित्त की आशा को पूरी करनेवाली पुण्य बात है।' लक्ष्मण मन में बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने काव्य-रचना करने की ठान ली। यदि मदमत्त, वन का गंध हाथी, अपने दांतों की किरणों से चमकता हुआ और अपनी चिक्कार से दसों दिशाओं को भर देनेवाला वश में हो जाय और अपने घर आवे तो कहो उसे कौन तुरंत नहीं चाहेगा? सुप्रसन्न अनुराग से यदि वह तुम्हारे घर आवे तो कहो कौन द्वार के कपाट लगा देगा। जिसने अपने बाणों की वर्षा से चतुरंग सेना को घायल किया है, जो धन, कन, कांचन से सम्पूर्ण और चंगा है ऐसे सवार को अपने घर के सामने आते देख, कहो भला कौन द्वार बंद कर देगा? सोने में अच्छी तरह जड़ा हुआ चिन्तामणि यदि हाथ चढ़ जाय तो कौन उसे छोड़ देगा? घर के आंगन में यदि कल्पवृक्ष उत्पन्न हो जाय तो उस सुख देनेवाले वृक्ष को कौन जल से नहीं सींचेगा? स्वयमेव घर आई हुई, सुख की सेना को उत्पन्न करनेवाली कामधेनु को कौन छोड़ देगा? अपने तेज से भापति (सूर्य) को भी जीतनेवाले चारणमुनि यदि आकाश से आ जायं तो उन्हें कौन नमस्कार नहीं करेगा? जीवनदान देनेवाला भव्य पीयूष-पिंड हाथ आ जाय तो उसे कौन छोड़ेगा?

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

महबिज्जक्खर-गुण-मणि-णिहाणु पवयण-वयणामय-पय-पहाणु ।
घर-धम्मिय-णर-मण-(बो) हणत्थु वरकइणा विरइउ परमु सत्थु ।
एमेव लद्ध महु-पुण्ण-भवणु अवगण्णइ णरु धीमंतु कवणु ।
घत्ता—इह महियले सो धण्णउ, पुण्ण-पउण्णउ, जसु णामें सुपसाहमि ।
चिंतिउ लक्खण-कइणा, सोहण-मइणा, कव्व-रयणु णिव्वाहमि ॥ ५ ॥

इह चंदवाडु जमुणा-तडत्थु दंसिय-विसेस गुण-विविह-वत्थ ।
चउहट्ट-हट्ट-घर-सिरि-समिद्धु चउवण्णासिय-जण-रिद्धि-रिद्धु ।
भूवालु तत्थ सिरि भरहवालु णिय-देस-गाम-णर-रक्खवालु ।
तहिं-लंबकंचु-कुल-गयण-भाणु हल्लणु पुरवइ सव्वह पहाणु ।
नरनाह-सहा-मंडणु जणिट्ठु जिण-सासण-परिणइ पुण्ण-सिट्ठु ।
तहो अमयवालु तणुरुहव हूउ वणि-पट्टंकिय-भालयल-रूउ ।
णरवइ-समज्ज-सर रायहंसु महमंत-धविय-चउहाण-वंसु ।
सो अभयवाल-णरणाह-रज्जे सुपहाणु राय-वावार-कज्जे ।
जिण-भवणु करायउ तें ससेउ केयावलि-झंपिय-तरणि-तेउ ।
कूडावीडग्गाइण्ण वोमु-कलहोय कलस-कलविचित्ति-सोमु ।

इसी प्रकार उत्तम कवि ने महावीजाक्षर-रूपी गुणों के मणियों का निधान शास्त्र वचनामृत के पदों में प्रधान, गृहस्थ धर्मवाले मनुष्यों के सम्बोधनार्थ यह परम शास्त्र रचा। इस प्रकार महापुण्य भाव का जो लाभ हुआ उसकी कौन बुद्धिमान् अवगणना करेगा ?

इस महीतल पर वह पुण्यवान् धन्य है जिसके नाम से मैं इसे सुप्रसिद्ध करता हूं, और शुभमति कवि लक्ष्मण-द्वारा सोचे हुए इस काव्य-रत्न को निबाहता हूं ॥५॥

यहां जमना के तट पर स्थित 'चंदवाड' है, जहां उत्तम प्रकार की विविध वस्तुएँ दिखाई देती हैं। वह चौहट्टों, हाटों और घरों की शोभा से समृद्ध है, तथा चारों वर्णों के आश्रित जनों की ऋद्धि से समृद्ध है। वहां के भूपाल श्री 'भरतपाल' हैं जो अपने देश और ग्राम के निवासियों के रक्षक हैं। वहाँ 'लंबकंचु' कुल-रूपी आकाश के भानु पुरपति 'हल्लण' सब में प्रधान हुए। वे नरनाथ की सभा के मंडन, लोगों को प्यारे और जिन-शासन में परिणति के पुण्य से शिष्ट थे। उनके पुत्र 'अमृतपाल' हुए जिनका भालतल वणिक् पट्ट से विभूषित हुआ। वे नरपति के समाजरूपी सरोवर के राजहंस थे और उन्होंने महामंत्रित्व-द्वारा चौहान वंश को उज्ज्वल किया था। वे 'अभयपाल' राजा के राज्य में राज-व्यापार-कार्य में प्रधान थे। उन्होंने एक जैन मन्दिर भक्तिसहित निर्माण कराया जिसने अपनी ध्वजावली से सूर्य के तेज को ढक दिया। वह अपने कूट शिखर के अग्रभाग से आकाश को छूता था, और सुवर्ण के कलश से बड़ा सुन्दर और सौम्य था।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

चउसालउ तोरणु सिरि जणंतु पड-मंडव-किंकिणि-रणा-झणंतु ।
देहरुडु तासु सिरि साहु सोढ़ जाहड-णरिंद-सहमंत-पोढु ।
घत्ता—संभूयउ तहो रायहो, लच्छि सहायहो, पढमु जण-मणाणंदणु ।
सिरि बल्लालु णरेसरु, रूवं जिय-सरु, सुद्धासउ महणंदणु ॥७॥
जो साहु सोढु तहिं पुर-पहाणु जण-मण-पोसणु गुण-मणि-णिहाणु ।
तहो पढमु पुत्तु सिरि रयणवालु बीयउ कण्हडु अद्धिंदु-भालु ।
सो सुपसिद्धउ मल्हा-तणूउ तस्साणुमणा जिउ सुद्धरूउ ।(?)
उद्धरिय जिणालय-धम्म-भारु जिण-सासण-परिणय-चरिय-चारु ।
गंधोवएण दिणे दिणे पवित्तु मिच्छत्त-वसण-वासण-विरत्तु
अरिराय-गाइ-गोवाल-रज्ज बल्लालएव-णरवइं समज्ज ।
सव्वहं सव्वेसरु रयण-साहु थावरइं णिरग्गलु चित्त-गाहु ।
सिवदेउ तासु हुउ पढमु सूणु सिरि दाण-(वंतु) णं गंध-थूणु ।
परियाणइ णिहिल कला-कलाउ विण्णाण-विसेसुज्जल-सहाउ ।
महं-पंडा-पंडिउ वि(उ)-सियासु अवगमिय-णिहिल-विज्जा-विलासु ।
पट्टाहियारि संपुण्ण-गत्तु वियसिय-सरोय-संकास-वत्तु ।

उसके चतुःशाल और तोरण की बड़ी शोभा थी, वह पट-मंडव की घंटरियों से झन-झनाता था। उनके पुत्र श्रीसाहु 'सोढ' हुए जो 'जाहड' नरेन्द्र के प्रधान मंत्री हुए। इस लक्ष्मीवान् राजा का प्रथम नन्दन लोगों के मन को आनन्द देनेवाला श्रीबल्लाल नरेश्वर हुआ जिसने अपने रूप से कामदेव को भी जीत लिया, जो शुद्धाशय थे।

जो साहु 'सोढु' वहां पुर-प्रधान, जन-मन-पोषण और गुण-मणि-निधान थे उनके प्रथम पुत्र श्री 'रत्नपाल' हुए और दूसरे 'कण्हड' जिनका भाल अर्धचन्द्र के समान था। ये (कण्हड) 'मल्हा' के पुत्र खूब प्रसिद्ध हुए। × × × ×
उन्होंने जिनालयों के उद्धार का धर्मभार धारण किया। उनका चारित्र सुन्दर और जिन-शासन के अनुसार था। वे प्रतिदिन गन्धोदक से अपने को पवित्र करते थे और मिथ्यात्व तथा व्यसन की वासना से विरक्त रहते थे। उन्हें बल्लालदेव नरपति ने शत्रु राजा-रूपी गौओं के गोपालराज बनाया था। रतन साहु 'सर्वेसर्वा' व्यापार में निरर्गल और गंभीर-चित्त थे। उनके प्रथम पुत्र शिवदेव हुए जो गंधहस्ती के समान दानवंत थे। वे समस्त कलाओं के जानकार थे और विशेष विज्ञान से उनका स्वभाव उज्ज्वल हो गया था। विद्वानों के बीच वे बड़े बुद्धिमान् पंडित थे और समस्त विद्या विलास उन्हें प्राप्त था। वे पदाधिकारी थे, अविकलांग थे और उनका मुख विकसित कमल के समान था।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

आयु-क्खए सो सिरि रयणवालु गउ सग्गालए गुण-गण-विसालु ।
तहो पच्छए हुउ सिवएव साहु पिउ-पट्टि बइट्ठउ गलिय-गाहु ।
अहमल्ल-राय-कर-विहिय-तिलउ महयणाहं महिउ गुण-गरुव-णिलउ ।
सो साहु पइट्ठिउ जणिय-सेउ सिवदेउ साहु कुल-वंस-केउ ।
घत्ता—जो कण्हडु पुव्वुत्तउ, पुण्ण प[1]उत्तउ, महि-मंडलि विक्खायउ ।
आहवमल्ल-णरिंदहु मणसाणंदहु मंतत्तणे पइभायउ ॥८॥

पिया तस्स सल्लक्खणा लक्खणड्ढा गुरूणं पए भत्ति काउं वियड्ढा ।
स-भत्तार-पायार-विंदाणुगामी घरारंभ-वावार-संपुण्ण-कामी ।
सुहायार चारित्त-चीरंक-जुत्ता सुचेयाण गंधोदएणं पवित्ता ।
स-पासाय-कासार-सारा मराली किवा-दाण-संतोसिया वंदिणाली
पसण्णा सुवाया[2] अचंचेल-चित्ता रमा राम रम्मा मए वाल णित्ता । (?)
खलाणं मुहंभोय-संपुण्ण-जुण्हा पुरग्गो महासाहु सोढस्स सुण्हा ।
दया-वल्लरी-मेह-मुक्कंबुधारा सइत्तत्तणे सुद्ध सीयावयारा ।
जहा चंद-चूडाणुगामी भवाणी जहा सव्ववेइहिं सव्वंग-वाणी ।
जहा गोत्त-णिद्दारिणो रंभ रामा रमा दाणवारिस्स संपुण्ण-कामा ।

आयु के क्षय होने पर वे रत्नपाल, गुण-गण-विशाल, स्वर्गालय को सिधारे। उनके पश्चात् शिवदेव साहु पिता के पद पर आग्रह-रहित होकर बैठे। आहवमल्ल राजा के हाथ से उनका तिलक हुआ। वे महाजनों में मान्य और महागुणों के निलय हुए। इस तरह शिवदेव साहु, अपने कुल और वंश के केतु, प्रतिष्ठित हुए और लोग उनकी सेवा करने लगे। और कण्हड, जिनका पहले उल्लेख कर आये हैं और जो पुण्य-द्वारा पवित्र और मही-मंडल में विख्यात थे, आहवमल्ल नरेन्द्र–द्वारा, मन में आनन्द-सहित, मन्त्रिपद पर प्रतिष्ठित किये गये ॥८॥

उनकी प्रिया सुलक्षणा, बड़ी लक्षणवती थीं, गुरुओं के चरणों की भक्ति करने में कुशल थीं, अपने पति के पादारविंद की अनुगामिनी और घर गृहस्थी के कार्य में पूरा मन लगानेवाली, सदाचारिणी, चारित्ररूपी वस्त्रधारण करनेवाली और चैत्यों (मूर्तियों) के गन्धोदक से पवित्र थीं। वे अपने राजमहलरूपी सरोवर की हंसिनी थीं, कृपा और दान-द्वारा बंदीजनों को संतुष्ट करती थीं। वे प्रसन्न, मधुरभाषणी, अचंचलचित्त,.....खलों के मुखरूपी कमलों के लिये पूर्ण चांदनी थीं। नगर-सेठ महासाहू सोढ की पुत्रवधू ऐसी थीं। वे दयारूपी बेल के लिये मेघ की जलवृष्टि के समान थीं और सतीत्व में शुद्ध सीता की अवतार थीं। जैसे चन्द्रचूड (शिव) की अनुगामिनी भवानी हैं, जैसे सर्वज्ञ की सर्वाङ्ग (द्वादशांग) वाणी, जैसे गोत्रभिद् (इन्द्र) की स्त्री रम्भा, दानवारि (विष्णु) की कामना पूर्ण करनेवाली रमा,

१ मूल में यउत्तउ पाठ है। २ मूल में 'सवाया' पाठ है।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

जहा रोहिणी ओसहीसस्स सरणा महड्ढी सपुण्णस्स सरस्स रमणा।
जहा सूरिणो मुत्तिवेई मणीसा किसाणस्स साहा जहा रूवमीसा।?
जहा जाणई कोसलेसस्स सारा ज्झुणीणस्स मंदाइणी तेयतारा।
रूप कंतुणो(?) दाणिणो सुद्धकित्ती जहासण्ण-भव्वस्स सम्मत्त-वित्ती।
घत्ता—तासु सुलक्खण विहिय कुलक्कम अणुगामिणि तह जणमहिय।
तहि हुव वे णंदण णयणाणंदण हरिदेउ जि दिउराउ हिया॥ ९॥

सो कण्हु मयण-मुद्दावयारु अहिणाणिय-भव-भायण-वियारु।
जिण-धम्म-रम्म-धुर-दिण्ण-खंधु पायडिय-पणय-भव्वयण-बंधु।
अणु-गुण-सिक्खावय-रयण-कोसु उवसंतासउ परिहरिय-रोसु।
दुव्वसण-विसय-वासण-विरत्तु णिव-मंति-विणिज्झाइय-परत्तु।
केण वि पच्छाए सो जि कण्हु जिण-मंदिरम्मि ठिउ चत्त-तण्हु।
सो लक्खउ कविणा लक्खणेण जिण-समय-वियार-वियक्खणेण।
तं कहिउ णिहिलु जं रयणिम* दिट्ठ सुविणंतरि अंबाएवि सिट्ठ।
तं सुणेवि कण्हु रोमंच-कंचु संजाउ दुत्ति-भय-हिय-पवंचु।
बहु-भत्तिए लक्खणु तेण रम्मु पुच्छियउ कण्हें सायारु धम्मु।

जैसे औषधीश (चन्द्र) की रोहिणी नामधारिणी, पुण्यवान् की महर्द्धि, कामदेव की रति, सूरि की मोक्षाकांक्षिणी बुद्धि, जैसे कृशानु (अग्नि) की शाखा (ज्वाला), जैसे कोशलेश (राम) की जानकी और धुनीन (समुद्र) की उज्ज्वल मंदाकिनी, ... जैसे दानी की शुद्धकीर्ति और आसन्न-भव्य की सम्यक्त्ववृत्ति, उसी प्रकार उनकी कुलक्रम की रक्षा करनेवाली, लोक-पूज्य सुलक्षणा अनुगामिनी थी। उसके नयनों को आनन्द देवेवाले हितकारी, दो पुत्र उत्पन्न हुए—हरिदेव और द्विजराज ॥९॥

वे कण्ह मदन के रूप के अवतार और संसार के चलाने वाले विकारों के जानकार थे। उन्होंने जैनधर्म के रमणीक धुरे में अपना कंधा दिया था और वे प्रेम प्रकट करनेवाले भव्य-जनों के बंधु थे। वे अणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रत-रूपी रत्नों के कोश थे, उपशान्त आश्रव और रोष के त्यागी थे। वे दुर्व्यसनों और विषयों की वासना से विरक्त थे। ये राजमन्त्री परत्र (परलोक) का ध्यान रखते थे। ये कण्ह किसी पश्चात्ताप से, तृष्णा को त्याग, जिनमन्दिर में बैठे थे। वहाँ जैनधर्म के विचार में विचक्षण कवि लक्ष्मण उनसे बोले और रात्रि को स्वप्न में जो कुछ देखा था व अंबादेवी ने जो कुछ उपदेश दिया था वह सब कहा। उसे सुनकर कण्ह रोमाञ्चित हो उठे और दो तीन शब्दों में ही उनका प्रपंच (मनोमालिन्य) दूर हो गया। बहुत भक्ति से कण्ह ने लक्ष्मण कवि से रमणीय सागराधर्म पूछा।

* मूल में 'रयणु' पाठ है।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

सम्मत्त-गुणट्ठ-कला-निबंध[1] तोडहि असुहासव-कम्म-बंध[2] ।
तं सुणेवि भणिउ-साहुल-सुएण जिण-चरणच्चण-पसरिय-भुएण ।
भो लंबकंचु-कुल-कमल-सूर कुल-माणव-चित्तासा-पऊर ।
जिण-समय-सत्थ-वित्थरण-दच्छ गुण-मणहारंकिय-वियड-वच्छ ।
सम्मत्ताहरण-विहूसियंग सुहियण-कइरव-वण-सिय-पयंग ।
णिम्मलयर-सरयायास-साम [2]दीवंतु-वासि-णर-थुणिय-णाम ।
पवयण-वयणामय-पाण-तित्त सव्वहं भव्वयणहं धम्म-मित्त ।
मिच्छत्त-जरंहिव-ससण-मित्त णाणिय-णरिंद सहनियनिमित्त । (?)
अवराह-वलाहय-विसम-वाय वियसिय-जीवणरुह-वयण छाय ।
भय-भरियागय-जण-रक्खवाल छण-ससि-परिसर-दल-विउल-भाल ।
संसार-सरणि-परिभमण-भीय गुरु-चरण-कुसेसय-चंचरीय ।
पोसिय-धम्मासिय-विबुह-वग्ग णाणिय-णिरुवम-णिव-णीइ-मग्ग ।
जस-पसर-भरिय-बंभंड-खंढ मिच्छत्त-महीहर-कुलिस-दंड ।
तज्जिय-माया-मय-माण-डंभ महमइ-करेणु-आलाण-थंभ ।
समयाणुवेइ गुरुयण-विणीय दुत्थिय-णर-णिव्वाणावणीय ।

"हे सम्यक्त्व के आठ गुणों की कला के निवन्ध, मेरे अशुभ आश्रव कर्मों के बन्धनों को तोड़िये।" यह सुन कर, जिनचरणों की पूजा में हाथ फैलानेवाले साहुल पुत्र बोले "हे लंबकंचुक-कुल-रूपी कमल के सूर्य, अपने कुल और अन्य मनुष्यों के मन को आशा को पूरी करनेवाले, जैनधर्म और शास्त्र के विस्तार में दक्ष, गुणरूपी मणियों के हार से अपने विशाल वक्षस्थल को शोभित करनेवाले, सम्यक्त्व के आभरण से विभूषितांग, सुहृद्जन-रूपी कुमुदवन के चन्द्र, खब निर्मल शरत्कालीन आकाश के समान श्याम, अन्य द्वीपों के वासी नरों द्वारा जिनके नाम की स्तुति की जाती है, प्रवचन (शास्त्रोपदेश) के वचनामृत के पान से तृप्त सब भव्यजनों के धर्म-मित्र, मिथ्यात्व-रूपी जीर्ण वृक्ष के लिये अग्नि, ज्ञानी राजा के सहज मित्र(?), अपराध रूपी मेघों को प्रचण्ड वायु, विकसित कमल के समान मुखकांति के धारक, भय से भरे हुए आनेवाले जनों के रक्षपाल, पूर्ण चन्द्रमण्डल के अर्धभाग समान भालयुक्त, संसार-सरणी में परिभ्रमण से भीत, गुरु के चरणकमलों के चंचरीक, धर्म के आश्रित हुए समझदार लोगों का पोषण करनेवाले, निरुपम राजनीति मार्ग के ज्ञाता, यश के प्रसार से ब्रह्माण्ड-खण्ड को भर देनेवाले, मिथ्यात्व-रूपी पर्वत के वज्रदण्ड, माया, मद, मान और दम्भ के त्यागी, महामति-रूपी हस्तिनी को बांधने के स्तम्भ, समयानुवेदी, गुरुजन-विनीत, और दुःस्थित नरों के कल्पवृक्ष,

१ मूल में उकारान्त पाठ है। २ मूल में 'दीवन्तु' पाठ है।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

घत्ता—तुहुं कइ-यण-मण-रंजणु, पाव-विहंजणु, गुण-गण-मणि-रयणायरु ।
उछाहट्ठि अवट्ठिउ सुपयो मट्ठिउ(?) णिहिल-कला-मल-णायरु ॥ १० ॥

तुहुं धण्णु जासु परिसिउ चित्तु तिपयत्थरसुज्जलु मइ-पवित्तु ।
सयणासण तंबेरम तुरंग धय छत्त चमर बाला वरंग ।
धण कण कंचण घण-दविण-कोस जंपाण जाण भूसण संतोस ।
घर पुर णयरायर देस गाम पट्टोलंबर पट्टण-समाण ।
संसार-सारु पयवत्थु भावु जं जं दीसइ णाणा सहाउ ।
तं तं सुहेण पावियइ सव्वु लहियइ ण कव्व-माणिक्कु भव्वु ।
इह दीसहिं बहु बुहयण सपण दीसहि न सुकइ जिण-समय-तण ।
सुण कहमि वियक्खण अइविचित्तु अइविसमु पुणब्भव-भमण-वित्तु ॥

× × × × ×

अन्तिम प्रशस्ति

सिरि लंबकंचु-कुल-कुमुय-चंदु करुणावल्ली-वण-धवण-कंदु ।
जस-पसर-पऊरिय-वोम-खंडु अहियद्दि-विमद्दण-कुलिस दंडु ।
अवराह-वलाहय-पलय पवणु भव्व-यण-वयण-सिरि-सयण-तवणु ।
उम्मूलिय-मिच्छत्तावणीउ जिण-चरणच्चण-विरयण-विणीउ ।

तुम कविजनों के मनोरंजन, पाप-विहंजन, गुण-गण रूपी मणियों के रत्नाकर .... और समस्त कलाओं के शुद्ध ज्ञाता हो ॥१०॥ तुम धन्य हो जिनका ऐसा चित्त हुआ जो तीन पदार्थों (धर्म, अर्थ, काम) के रस से उज्ज्वल और पवित्र मति है। शयन, आसन, स्तंबेरम (हाथी), घोड़े, ध्वजा छत्र, चमर वरांगिणी बाला, धन, कण, कांचन, घना द्रविण-कोश, पालकी, यान, यथेच्छ भूषण, घर, पुर, नगर देश, ग्राम, नगर के समान बड़े बड़े तम्बू आदि संसार में सार-रूप नाना प्रकार की जो जो वस्तुएं दीखती हैं, वे सब सुलभता से प्राप्त हो सकती हैं, पर काव्यरूपी भव्य-माणिक्य सुलभ नहीं है। यहां बहुत से प्रज्ञावान् बुधजन दिखाई देते हैं, पर जैनशास्त्र का तद्ज्ञ (ज्ञाता) सुकवि दिखाई नहीं देता। हे विचक्षण, सुनो, मैं तुम से पुनर्भव में भ्रमण करने का अति विचित्र और अति विषम वृत्तान्त कहता हूं।"

श्रीलंबकंचुक-कुल-रूपी कुमुद के चन्द्र, करुणारूपी वल्ली के वन का पोषण करने वाले कंद, यश के प्रसार से आकाशखंड को प्रपूरित करनेवाले, शत्रुरूपी पर्वत के विमर्दन के लिये वज्र-दण्ड, अपराध रूपी मेघों के लिये प्रलय-पवन, भव्यजनों के मुख-रूपी कमलों के लिये सूर्य, मिथ्यात्वरूपी वृक्ष को उन्मूलित करने वाले, जिन-चरणों की पूजन करने में विनीत,

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

दंसण-मणि-भूसण-भूसियंगु तज्जिय-पर-सीमंतिणि-पसंगु ।
पवयण-विहाण-पयडण-समोसु णिरुवम-गुण-गण-माणिक्क-कोसु ।
संपयडि-परपयडि-सया-अभिदु धण-दाण-धविय-वंदियण-विदु ।
संसाराडइ-परिभमण-भीरु जिण-कव्वामय-पोसिय-सरीरु ।
-देव-पाय-पुंडरिय-भत्तु विणयालंकिय-वय-सील-जुत्तु ।
महसइ लक्खण तहु पाणणाहु पुर-परिहायार-पलंब-बाहु ।
कण्हडु वणिवइ जण-सुप्पसिद्धु अहमल्ल-राय-महमंति रिद्ध ।
तहो पणय-वसेण वियक्खणेण महमइणा कइणा लक्खणेण ।
साहुलहो घरिणि जइता-सुपण सुकइत्तण गुण-विज्जाजुएण ।
जायस-कुल-गयण-दिवायरेण अणसंजमीहिं विहियायरेण ।
इह अणुवय-रयण-पईउ कव्वु विरयउ ससत्ति परिहरिवि गव्वु ।
घत्ता—जिण-समय-पसिद्धहं धम्म-समिद्धहं वोहणत्थु मह सावयहं ।
इयरह महलोयहं पयडिय-मोयहं परिसेसिय-हिंसावयहं ॥१॥
मइं अमुणंते अक्खर-विसेसु न मुणमि पबंधु न छंद-लेसु ।
सद्दावसद्द ण विहत्ति अत्थु धिट्ठत्तणेण मइ रइउ सत्थु ।
दुज्जणु सज्जणु वि सहावरो वि महु मुक्खहो दोसु म लेउ को वि

सम्यग्दर्शन-रूपी मणियों के भूषणों से भूषितांग, परस्त्री-प्रसंग के त्यागी, प्रवचन (शास्त्रोपदेश) विधान के प्रकाशनार्थ समवशरण, निरुपम गुणरूपी माणिक्यों के कोश, संसार-रूपी अटवी के परिभ्रमण से भयभीत, जैन काव्यों के अमृत से जिनका शरीर पुष्ट होता था, गुरु और देव के चरण कमलों के भक्त, विनय से अलंकृत, व्रत और शीलयुक्त, महासती लक्षणा के प्राणनाथ, नगर की परिखा के आकार-सदृश लम्बी भुजाओं वाले, लोक में सुप्रसिद्ध, आहवमल्ल राजा के समृद्धिशाली महामन्त्री वणिक्पति कण्हड के प्रेमवश, विचक्षण महामति कवि लक्ष्मण, 'साहुल' की गृहिणी 'जइता' के पुत्र, सुकवित्व-गुण और विद्या-युक्त जायस-कुल-रूपी आकाश के दिवाकर, अणुव्रती श्रावकों का आदर करने वाले ने गर्वरहित होकर अपनी शक्ति अनुसार यह 'अणुव्रतरत्नप्रदीप' काव्य की रचना की, जैनधर्म में प्रसिद्ध, धर्मसमृद्ध, महाश्रावकों तथा मोद प्रकट करनेवाले व हिंसा के त्यागी अन्य महालोगों के बोधनार्थ ॥ १ ॥

अक्षर विशेष (शब्दशास्त्र) न जानते हुए तथा प्रबंध व छन्द का तथा शब्द, अपशब्द व विभक्ति व अर्थ का ज्ञान न रखते हुए, धृष्टता मात्र से मैंने इस शास्त्र की रचना की। दुर्जन, ज्ञान व अन्य कोई मुझ मूर्ख को कोई दोष न देना ।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

पद्धडिया-बंधें सुप्पसण्ण अवगमउ अत्थु भव्वयणु तण्णु ।
हीणक्खरु मुणेवि इयरु तत्थु संथवउ अण्णु वज्जेवि अणत्थु ।
जं अहियक्खरु मत्ता-विहाउ तं पुसउ मुणिवि जणियाणुराउ ।
सय दुण्णि छ उत्तर अत्थसार पद्धडिय-छंद णाणा-पयार ।
बुझहु तिसहस सय चारि गंथ बत्तीसक्खर णिरु तिमिर-मंथ ।
चदु-दुहय सग्ग पिहु पिहु पमाण सावय-मण-बोहण सुद्ध-ठाण ।
तेरह सय तेरह उत्तराले परिगलिय विक्कमाइच्च काले ।
संवेयरइह सव्वहं समक्ख कत्तिय-मासम्मि असेय-पक्खे ।
सत्तमि दिणे गुरुवारे समोए अट्ठमि रिक्खे साहिज्ज-जोए ।
नव मास रयतें पायडत्थु सम्मत्तउ कमे कमे एहु सत्थु ।

घता—तित्थंकर वयणुब्भव, विहुणिय-दुब्भव जण-वल्लह परमेसरि ।
कव्व-करण मइ पावण, सुह सरिदावण, मइ उवणउ वाएसरि ॥२॥

× × × × ×

पद्धडिया बंध से सुप्रसन्न होकर तद्ज्ञ भव्यजन इसका अर्थ समझ लें। जो कुछ इसमें हीनाक्षर व अन्य दोष हो उसे अनर्थ बचा कर ठीक कर लें। जो कुछ अधिकाक्षर व मात्रा-विघात हो उसे जानकर अनुराग से ठीक कर लें। इसमें दो सौ छह अर्थसार और नाना प्रकार के पद्धडिया छन्द तथा तिमिर (अज्ञान के अन्धकार) को दूर करनेवाले बत्तीस अक्षरी तीन हजार चार सौ ग्रन्थ इसमें जानो और बड़े बड़े प्रमाण के, श्रावकों के मन का संबोध करवाले शुद्ध स्थान आठ सर्ग। विक्रमादित्य काल के तेरह सौ तेरह वर्ष बीत जाने पर संवेग (विषय सुख-विरक्ति) में रत सब के सम्मुख, कार्तिक मास कृष्णपक्ष की सप्तमी के दिन गुरुवार को प्रातःकाल अष्टम नक्षत्र व साहिज्जयोग में नव मास तक क्रम क्रम की रचना के पश्चात् प्रकटार्थ यह शास्त्र मैंने समाप्त किया।

तीर्थंकर के वचनों से समुद्भूत, दुर्भव को दूर करनेवाली, जन-वल्लभा परमेश्वरी, काव्य करने में मति को पवित्र करनेवाली, सुख और कल्याण की दात्री वागेश्वरी मुझे प्राप्त हो।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

परिशिष्ट २

कण्हड की कीर्तिवाचक संधियों के आदि के कुछ पद्य

संधि २

वाणी जस्य परोवयार-परमा चिंता सुदत्थे सया
काया सव्वविदंहि-पूय-णिरदा कित्ती जयाच्छाइणी।
वित्तं जस्स विहाइ णिच्च सददं पत्ताण दाणुज्जमे
सो णंदादवणीयले सुअजुवो कण्हो विसुद्धासओ ॥१॥

संधि ३

णीइल्लो णिच्च-चाई सुकइ-जण-मणाणंद-कंदुड्डचंदो
भत्तो सूरीण पाए समय-विहि-रसुल्लास-लीला-निकेओ।
वंदो कुंदावदातामल-सजस-छुहा-छोहियासो णहंतो
धम्म पाणीहि णिच्चं कह ण इह जए कण्हडो संसणिज्जो ॥२॥

संधि ८

भो कण्ह तुम्ह महि-मंडलम्मि सच्छंद-चारिणी कित्ती।
धवलंति भमइ भुवणं पिहुलमसेसं सलीलाए ॥३॥
कुंदावदा (त)-रुचि-कीरमाण ककुहंतरंत-दीवंतं।
तीए ताविच्छ-छवि खल-वयणं कयं इ तं चित्तं ॥४॥

जिनकी वाणी परोपकार परायण है, जिन्हें चिंता सदा श्रुतार्थ की है, जिनकी काया सर्वज्ञ के चरणों की पूजा में निरत है, कीर्ति जगदाच्छादिनी है और संपत्ति नित्य और सतत पात्रदानोद्यम में शोभायमान होती है वे श्रुतयुक्त, विशुद्धाशय कण्ह भूतल पर आनन्द करें ॥१॥

नीतियुक्त, नित्य-त्यागी, सुकविजनों के मनानंद रूपी कंद को ऊर्ध्वचंद्र, आचार्यों के चरणों के भक्त, धर्मविधि के रसोल्लास की लीला के निकेत, वंदनीय, कुंदवत् निर्मल यशोरूपी सुधा से आकाश को सुशोभित करने वाले और धर्मरूपी जल से नित्य स्नान करनेवाले कण्हड इस जगत् में कैसे प्रशंसनीय नहीं है ? ॥२॥

हे कण्ह, महीमण्डल पर स्वच्छंदचारिणी तुम्हारी कीर्ति समस्त विशाल भुवन को धवल करती हुई सलील भ्रमण कर रही है ॥४॥

यह कीर्ति समस्त दिशाओं और द्वीपान्तरों को तो कुंद के समान धवल वर्ण कर रही हैं पर खलों के मुख को तापिच्छ (तमाल) के सदृश काला कर रही है, यह बड़ी विचित्रता है ॥४॥

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

परिशिष्ट ३

संध्यंत पुष्पिकायें

१ इय अणुवय-रयण-पईव-सत्थे परमोवास-पाण-तेवरण-किरिया-पयडण-पसत्थे सुगुण सिरि-साहुल-सुव-लक्खण-विरइए भव्वसिरि-कण्हाइच्च-णामंकिए दंसण-गुण-परिभाव-वरणणो णाम पढमो परिच्छेउ सम्मत्तो ॥१॥

२ इय अणुवय रयण-पईव-सत्थे परम-सावयार-विहि-विहाण-विरयण-समत्थे सगुण-सिरि-साहुल-सुव-लक्खण-विरइए महामंति-कण्हाइच्च-णामंकिए णिस्संक-गुण-पढम-कहा-पयडणो णाम दुइउ परिच्छेउ सम्मत्तो ॥२॥

३ इय अणुवय-रयण-पईव-सत्थे महासावयाण सुपसण्ण परम-तेवरण-किरिय-पयडण-समत्थे सगुण-साहुल-सुअ-लक्खण-विरइए भव्व सिरि-कण्हाइच्च-णामंकिए पंच कहंतर-सम्मत्त-गुण-वित्थरणो णाम तईओ परिच्छेउ सम्मत्तो ॥३॥

४ इय अणुवय-रयण-पईव सत्थे मह सावयाण सुपसण्ण परम-तेवरण-किरिय-पयडण-समत्थे सगुण-सिरि-साहुलसुव-लक्खण-विरइए भव्वसिरि-कण्हाइच्च-णामंकिए सेणिय-महाराय-सम्मत्त-कहट्ठया वण्णणो णाम चउत्थो परिच्छेउ सम्मत्तो ॥४॥

५ इय अणुवय-रयण-पईव-सत्थे महसावयाण सुपसण्ण परम-तेवण्ण-किरिया-पयडण-समत्थे सगुणसिरि-साहुल-सुव-लक्खण-विरइए भव्व-सिरि-कण्हाइच्च-णामंकिए सत्त-वसण-परिहरण-सम्मत्त-वित्थरणो णाम पंचमो परिच्छेउ सम्मत्तो ॥५॥

६ (ऊपर के समान)-कण्हाइच्च-णामंकिए दाण-पहाव-फल-संपत्ति-वण्णणो णाम छट्ठो परिच्छेउ समत्तो ॥६॥

७ .....महामंति-कण्हाइच्च-णामंकिए सत्त-पडिम-विच्छित्ति-वण्णणो णाम सत्तमो परिच्छेउ समत्तो ॥७॥

८ .....भव्व सिरि ....किए सावयार-विहि-सम्मत्तणो णाम अट्ठमो परिच्छेउ समत्तो ॥८॥

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

श्रीनिर्वाणक्षेत्र गिरिनार

[लेखक—श्रीयुत कामता प्रसाद जैन, एम०आर०ए०एस०]

काठियावाड़-गुजरात के प्रमुख जैन तीर्थों में गिरिनार मुख्य है। पालीताना स्टेट में शत्रुंजय और जूनागढ़ की रियासत में गिरिनार अपना खास स्थान रखता है। शत्रुंजय पर्वत समुद्रतल से क़रीब दो हज़ार फीट ऊँचा है, परंतु गिरिनार की ऊँचाई उससे अधिक है—वह ३६६६ फीट ऊंचा है। जूनागढ़ नगर से पूर्वदिशा में ठीक उसके ऊपर गिरिनार पर्वत की चोटियाँ आकाश से बातें करती हैं।[१] पर्वत की उच्चता और विशालता पृथ्वी का दिल दहलानेवाली है। किन्तु गिरिनार का महान् रूप उसकी पवित्रता में गर्भित है—वह जैनियों का पवित्र तीर्थ—मंगलक्षेत्र है।[२] लाखों जैनी गिरिराज की यात्रा करके अपना नरजन्म सफल करते हैं। वैष्णव आदि हिंदू गिरिनार की बंदना करने पर ही तीर्थयात्रा को सफल मानते हैं।[३] और मुसलमान भी इस मनोरम पर्वत की इबादत करने आते हैं।[४] कैसा जीता-जागता प्रभाव है इस तीर्थराज का कि लोग अपने साम्प्रदायिक पक्षपात को भूल जाते और उसकी भक्ति अपने-अपने रूप में करते हैं! धन्य है गिरिनार!

प्राचीन नाम—तीर्थरूप में गिरिनार की मान्यता सम्राट् अशोक से पहले की है।[५] जैन-ग्रन्थ और हिन्दू-पुराण गिरिनार की प्राचीनता उनसे भी बहुत पहले निर्धारित करते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि गिरिनार-सदृश विशाल और मनोरम पर्वत की ओर आर्य पुरुषों का ध्यान सभ्यता के अरुणोदय में ही हुआ था। उन्होंने उस पर्वत की तलहटी में सुन्दर गिरिनगर बसाया,[६] जो आज का जूनागढ़ है और पर्वत पर दिव्य देवालय, ऋषि-गुफायें और

१ तारीखे सोरठ, पृष्ठ २७।

२ 'तिलोयपण्णत्ति' में क्षेत्रमंगल के उदाहरण में गिरिनार का उल्लेख 'उज्जयंत' के नाम से है:—"पृदस्स उदाहरणं पावाणयरुज्जयंतचम्पादी।" 'गोम्मटसार' जीवतत्वप्रदीपिका टीका में भी यही उल्लेख है:—"क्षेत्रमंगलमूर्जयंतादिकमर्हदादीनां निःक्रमण केवलज्ञानादिगुणोत्पत्तिस्थान।"

३ 'गिरिनारमाहात्म्य'—Burgess, Report on the Antiquities of Kathiawad & Kacchha, p. 155.

४ मुसलमान इसे शाह मदार की ज़ियारगाह मान कर पूजते हैं। —तारीखे सोरठ, पृ० ६

५ "Girnar, the ancient Raivata or UJjayanta doubtless a place of pilgrimage even before the days of Asoka."—James Burgess, 'The Report on the Antiqnities of Kathiawada and Kacchha' (1874—75), page 154.

६ 'आदिपुराण' में ऋषभदेव जी के समय में गिरिनगर व गिरिनार का अस्तित्व बताया गया है। पश्चिम दिशा की दिग्विजय में भरतचक्रवर्ती गिरिनार भी पहुंचे थे। (इन्दौर की प्रति, पृ० १११५)

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

दुर्ग एवं कोट भी निर्मित किये। किन्तु कालचक्र ने जिस प्रकार गिरिनार और गिरिनगर के रूप-रंग को बदला है उसा प्रकार गिरिनार के नाम भी समयानुसार बदलते रहे हैं। लोगों ने कभी उसे 'ऊर्जयन्त' कह कर पुकारा है तो कभी उसे 'रैवतक पर्वत' कहा है। 'नेमिदूत-काव्य' के टीकाकार उसे 'रामगिरि' कह कर सम्बोधन करते हैं।[१] ब्राह्मणों ने उसके प्यारे नाम 'रैवत' 'प्रभासपर्वत' और 'वस्त्राचल तीर्थ' भी रक्खे हैं।[२] मानव हृदय की भक्ति गिरि-नार के प्यारे नाम पर खूब ही बही है!

प्राचीनता—उपर्यक्त पंक्तियों में सम्राट् अशोक के पहले से गिरिनार का महात्म्य उल्लिखित है। जैनशास्त्र गिरिनार का अस्तित्व प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेव के समय से प्रकट करते हैं।[३] तब से अब तक वह अपना अद्वितीय स्थान भारत के इतिहास में लिये हुए हैं। जब मथुरा से हट कर यादव-क्षत्रिय द्वारिका में आ रहे—तब गिरिनार उनकी लीलाभूमि रहा! श्रीकृष्ण और उनके पुत्र एवं भ० अरिष्टनेमि और अन्य यादव यहां पर रंगरेलियां करते थे और उनके देवालय भी गिरिनार पर थे।[४] भ० अरिष्टनेमि के समय से जैन इतिहास में गिरिनार विशेष महत्त्वशाली हो गया—भ० नेमि ने उसी पर से निर्वाणलाभ किया था। उनकी तपोभूमि, केवलज्ञानोत्पत्ति-स्थान और धर्मचक्र-प्रवर्तन-क्षेत्र भी गिरिनार था। शंबु-प्रद्युम्न-वरदत्तादि मुनीश्वर भी यहीं से मोक्ष गये थे।[४] ग़र्ज़ यह कि जैनधर्म का गढ़ उस समय गिरिनार पर्वत था।

ब्राह्मण-शास्त्रों में भी गिरिनार की प्राचीनता काफी दरसाई गई है। 'महाभारत' से वहाँ पर कृष्ण-बलराम के लीलापूर्वक कार्यों का पता चलता है।[५] 'स्कंधपुराण-प्रभासखंड' गिरि-नार माहात्म्य का प्रकरण गिरिनार की पवित्रता स्थापित करता है। उसमें लिखा है कि एक दिन शिव और पार्वती कैलाश पर बैठे थे। पार्वती जी ने शिवजी से पूछा कि आप किस पुण्यकर्म के करने से प्रसन्न होते हैं। शिव बोले 'मैं उन लोगों से प्रसन्न होता हूं जो प्राणियों पर दया करते हैं, सदा सत्य बोलते हैं, कुशील-सेवन कभी नहीं करते और रणक्षेत्र में सब से

१ नेमिदूतकाव्य—दिगम्बर जैन डायरेक्टरी, पृ० ७६०।

२ स्कंधपुराण प्रभासखण्ड—'सुराष्ट्रदेशो विख्यातो गिरी रैवतको महान्॥' 'उज्जयंतगिरेर्मूर्ध्नि' इत्यादि

३ आदिपुराण देखो। ४ हरिवंशपुराण देखो।

५ महाभारत—आदिपर्व अध्याय २१८—२२२।

अर्जुन तीर्थों की यात्रा कर के उपरान्त आए और प्रभास पर्वत पर गए। प्रभास से वह कृष्ण के साथ रैवतक आए। वहाँ पर गान-नृत्य से कृष्ण ने उनका आदर-सत्कार किया। गिरिनार से वे द्वारिका गए। सुभद्रा गिरिनार पर पूजा करने आई—तभी अर्जुन उसे ले भागे थे। यादवों के उत्सव की स्मृति-रूप में ही शायद आजकल भी गिरिनार पर माघ महीने में मेला भरता है! (बम्बई गजेटियर भा० १, खं० १, पृ० ६)

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

आगे रहते हैं।' इसी समय ब्रह्मा आदि अनेक देवता वहाँ पहुंच गये। विष्णु ने शिव से दैत्यों पर कृपालु होने की शिकायत की। शिव जी बोले—'भई, मुझे प्रसन्न होते देर नहीं लगती—जानते हो, मेरा यह स्वभाव है। यदि तुम्हें यह नागवार है तो लो मैं यह चला।' यह कह कर शिव उठ कर चल दिये। पार्वती ने देवताओं से कहा—'शिव के बिना बताइये मैं कैसे रहूं ?' इस पर सब देवता शिवजी को ढूंढ़ने चले। उधर शिवजी वस्त्रापथक्षेत्र (गिरिनार) पहुंचे और वहाँ पर उन्होंने सब कपड़े उतार डाले। वह शरीर से मुक्त होकर वहाँ पर अन्तर्हित हो रहने लगे। विष्णु-पार्वती आदि वहाँ ढूंढ़ते हुए पहुंचे। गिरिनार पर बैठ कर पार्वती ने शिवभक्ति के गीत गाये, जिससे प्रसन्न होकर शिवजी ने उन्हें दर्शन दिये। देवताओं ने उनसे कैलाश चलने के लिए कहा। शिव जी इस शर्त पर चलने को राज़ी हुए कि सब देवता गिरिनार पर रहें—वह और पार्वती कैलाश जाँय। सब ने यह शर्त मंजूर की। रैवतक पर विष्णु रहने लगे और उज्जयन्त पर पार्वती (अम्बारूप में) रहती थीं। गिरिनार पर शिवजी ने वस्त्र उतारे थे इसलिये उसका नाम वस्त्रापथ हुआ।[1] इस कथा का सादृश्य भ० अरिष्टनेमि के जीवन-चरित्र से है। इन बाईसवें तीर्थङ्कर ने गिरिनार पर आकर ही वस्त्राभूषण त्याग कर दिगम्बर-दीक्षा धारण की थी। उनकी भावी पत्नी राजमती जी ने यहीं आकर उनसे घर चलने की प्रार्थना की थी। आखिर वहीं से नेमिप्रभु शरीर से मुक्त हुए थे। उन्होंने अहिंसा-सत्य-शीलादि धर्मों का उपदेश दिया था। उपर्युक्त कथा में शिवजी के विषय में भी यह सब बातें कही गई हैं। अतः यह जी को खटकता है कि हिंदू ग्रन्थकार कहीं शिव के रूप में जिनेन्द्र नेमि का वर्णन तो नहीं करते हैं ? और जब हम उनके लिखे हुए निम्नलिखित श्लोकों को पढ़ते हैं तो यह अनुमान ठीक उतरता है—

'वामनोपि ततश्चक्रे तत्र तीर्थावगाहनम्।
यादृग्रूपः शिवो दृष्टः सूर्यबिम्बे दिगम्बरः ॥९४॥
पद्मासनस्थितः सौम्यस्तथातं तत्र संस्मरन्।
प्रतिष्ठाप्य महामूर्तिं पूजयामास वासरम् ॥ ९५ ॥
मनोऽभीष्टार्थसिद्ध्यर्थं ततः सिद्धिमवाप्तवान्।
नेमिनाथशिवेत्येवं नाम चक्रे स वामनः ॥ ९६ ॥

भावार्थ—'वामन ने सूर्य के प्रतिबिम्ब में पद्मासनस्थित सौम्य और दिगम्बर शिव जी का रूप देख कर उस महामूर्ति की प्रतिष्ठा करके पूजन की और अपनी अभीष्ट-सिद्धि के लिये 'नेमिनाथ शिव' इस मंत्र की जाप की'।[2] दूसरे शब्दों में इसका अर्थ यही है कि प्रकरण-

१ Burgess, Report of the Antiquities of Knthiawad etc, pp. 155-56.

२ 'स्कंधपुराण प्रभासखण्ड' अ० १६ पृ० २२१—('वेद-पुराणादि ग्रन्थों में जैनधर्म का अस्तित्व' पृ० ३४-३५)

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

गत शिव से लेखक का अभिप्राय नेमिनाथ (जैनतीर्थङ्कर) से है। भ० नेमि की मूर्ति दिगम्बर पद्मासन मुद्रा में होती है। किस उदारता से ब्राह्मणग्रंथकार ने जैनमान्यता को अपनाया है और जिनेन्द्र नेमिनाथ की भक्ति का प्रचार शैवसम्प्रदाय में किया है! जो सनातनी भाई जैनमूर्ति की दिगम्बर मुद्रा पर आक्षेप करते हैं, वह ज़रा उपर्युक्त कथा को पढ़ें! अस्तु; इस कथा से भी गिरिनार का माहात्म्य प्राचानकालीन स्थापित होता है!

ऐतिहासिक साक्षी—गिरिनार और उसके माहात्म्य की प्राचीनता की पोषक सर्व-प्राचीन साक्षी वह ताम्रपत्र है जिसे प्रो० प्राणनाथ ने निम्नलिखित शब्दार्थ में पढ़ा है:—

"रेवानगर के राज्य का स्वामी, सु·····जाति का देव, नेबुशदनेज़र आया है। वह यदुराज (कृष्ण) के स्थान (द्वारिका) आया है। उसने मंदिर बनवाया, सूर्य····· देव नेमि कि जो स्वर्ग-समान रेवतपर्वत के देव हैं (उनको) हमेशा के लिये अर्पण किया।"[१]

प्रो० सा० इस लेख को ईस्वी पूर्व ६०० से ११४० तक का अनुमान करते हैं।[२] इससे रेवतपर्वत (गिरिनार) की पवित्रता और भ० नेमिनाथ का उससे सम्पर्क स्पष्ट है। उस प्राचीन काल में भी रैवतक पर्वत पर नेमिनाथ भगवान् के मंदिर बन गये थे। इसके अतिरिक्त स्वयं गिरिनार के मौर्यकालीन शिलालेखों से गिरिनार का महत्त्व स्पष्ट है। काठियावाड़ (सुराष्ट्र) का वह प्रधान केन्द्र था।

जैन साहित्य में गिरिनार—जैन साहित्य गिरिनार-विषयक उल्लेखों से ओतप्रोत है। विस्तारभय से इस लेख में कतिपय प्राचीन ग्रंथों के उद्धरण ही उपस्थित किये जाते हैं। उपलब्ध दिगम्बर जैन साहित्य में 'धवला सिद्धान्तग्रन्थ' प्राचीन है। इस सिद्धांतग्रंथ की 'जीवट्ठाण टीका' में सम्यक्त्व-उपलब्धि में कारणभूत जिनबिम्बादि का उल्लेख करते हुये गिरिनार का उल्लेख 'उज्जंत' (ऊर्जयन्त) नाम से निम्न प्रकार किया है:—

"लद्धि संपण्णरिसीदंसणंपि पढम सम्मत्तुप्पत्तीए कारणं होदि। तमेत्थ पुध किण्ण भणदे? ण पदस्सवि जिणबिंबदंसणे अंतब्भावादो। उज्जंत-चंपापावाणयरादिदंसणंपि एदेणेव घेत्तव्वं।"[३]

'जीवट्ठाणटीका' में ही श्रुतावतार के प्रसंग में गिरिनार के पास स्थित गिरिनगर और चंद्रगुफा का उल्लेख निम्नलिखित रूप में आया है:—

[३]"तदो सव्वेसिमंग पुव्वाणमेगदेसो आइरिय परंपराए आगच्छमाणो धरसेणाइरियं

१ "जैन" भावनगर, भा० ३५, अंक १, पृ० २।

२ The Times of India, 19th March, 1935, p. 9..

३ धवल सिद्धांतग्रन्थ के यह उद्धरण हमें श्रीमान् पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार से प्राप्त हुए हैं, जो उन्होंने आरा की प्रति से नोट किए थे। इस कृपा के लिए हम मुख्तार सा० के आभारी हैं।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

संपत्तो। तेणवि सोरट्ठविसय-गिरिणयर पट्टण—चंदगुहाट्ठिएण अट्ठंग-महाणिमित्त पारएण गंथवोच्छेदो हो हदि त्ति जादभएण पवयण वच्छलेण दक्खिणावहाइरियाणं महिमाए मिलियाणं लेहो पेसिदो।" —धवलसिद्धान्त

इस उल्लेख से गिरिनगरपट्टन के निकट चंद्रगुफा में श्रीधरसेनाचार्य जी के आवास का भी पता चलता है। वह आठ महानिमित्तों के ज्ञाता थे और उन्होंने श्रुतविच्छेद के भय से दक्षिणापथ के जैनसंघ को पत्र प्रेषित किया था। धवलग्रंथ की 'वेदनाखण्ड' टीका में भी आगे इसी प्रकरण के उल्लेख में गिरिनगर और चंद्रगुफा का ज़िक्र फिर हुआ है:—

"एवं पमाणीभूद महरिसि पणलेण आगंतूण महाकम्म पयडि पाहुडामिय जलपवाहो धरसेणभडारयं संपत्तो। तेण वि गिरिणयर चन्दगुहाए भूदबलि पुप्फदंताणं महाकम्म पर्याड पाहुडं सयलं समप्पिदं।" —धवलसिद्धान्त

भूगोल-संबंधी प्राचीन जैनग्रंथ 'तिलोयपण्णत्ति' में भी गिरिनार का उल्लेख तीर्थङ्कर अरिष्टनेमि के प्रकरण में मिलता है। जैन-पुराण-ग्रन्थ तो गिरिनार के वर्णन से ओतप्रोत हैं। 'हरिवंशपुराण' में उसका वर्णन उल्लेखनीय है। वहाँ लिखा है:—

" रुक्मिणी को ले कर कृष्ण गिरिनार पर्वत पर आगये और वहां रुक्मणी के साथ विवाह किया।" (पृष्ठ ४०६)

"एक समय वसंतऋतु का आगमन होने से क्रीड़ा करने के लिये चक्रवर्त्ती कृष्ण अपनी पटरानी, भ० नेमिनाथ, अनेक राजा, महाराजा और पुरवासियों के साथ-साथ अनेक पुष्पों से व्याप्त गिरिनार पर्वत के वन में गये ॥ २९ ॥ उस समय नाना प्रकार के स्त्री-पुरुषों से मंडित वह गिरिनार का वन देव-देवांगनाओं से व्याप्त मेरुपर्वत के नजदीक वनों की तुलना करता था ॥ ३३ ॥ चलते-चलते जब पर्वत पास आ गया तो समस्त मनुष्य अपनी-अपनी सवारियों से उतर पड़े और उस (पर्वत) के नितंब भागों में इच्छानुसार विहार करना प्रारंभ करने लगे ॥३४॥" (पृ० ४९०)

"उस समय यद्यपि उष्णता अधिक थी तथापि गिरिनार-पर्वत पर शीतल जल के निर्झरने झरते थे, इसलिये वह (ग्रीष्म ऋतु) भी अधिक प्रिय लगने लगी जिससे कि वे कृष्णादिक वहां ही सानन्द रहने लगे ॥५०॥ यद्यपि भ० नेमिनाथ स्वभाव से ही राग उत्पन्न करने वाली चेष्टाओं से विमुख थे तथापि कृष्ण की स्त्रियां उन्हें एक दिन घेर कर शीतल जल से परिपूर्ण सरोवर पर ले आईं और नेमिनाथ के साथ जलक्रीड़ा करने लगीं ॥ ५१ ॥ (पृ० ४९२)

भ० नेमिनाथ संसार से विरक्त होकर इसी गिरिनार पर्वत पर आकर तपश्चरण-लीन हुए

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

थे। 'हरिवंशपुराण' में इस प्रसंग का वर्णन निम्नलिखित शब्दों में है :—

"भगवान देव-सेना के साथ गिरिनार पर्वत पर आ गये ॥ ११३ ॥ उस पर्वत को हम मेरु की उपमा नहीं दे सकते क्योंकि वहां तिमिर-विनासक सूर्य-चन्द्रमा के रहने पर भी महात्माओं का दर्शन नहीं होता और यहां पर उनका सदा जाज्वल्यमान प्रकाश रहता है ॥ ११४ ॥ यह गिरिनार-पर्वत उस समय शब्दायमान गिरते हुए निर्झरनों से, पक्षियों से, अतिमिष्ट आम्र के फलों से और पुष्पों से व्याप्त जाति वृक्षों से युक्त था। वहां पर कोई किसी प्रकार का निंदित पुष्प न था, इसलिये वह अति मनोहर जान पड़ता था ॥ ११५ ॥ उसमें जगह-जगह नाना प्रकार की मणियां सुवर्ण और भांति-भांति के धातुओं के रस शोभित हो रहे थे। उसकी शिखरों पर किन्नरदेव रहते थे और वह अपनी वनभूमि से मनुष्य और देवों के मनों को हरण करता था। गिरिनार पर्वत के उपवन में जा कर निष्काम भगवान् जिनेन्द्र की आज्ञा से एक जगह इन्द्र ने उनकी पालकी रख दी और (एक शिला पर जाकर बैठ गये। एवं पंचमुष्टिलोच किया।) जहां पर भगवान् ने जीवों की रक्षा करनेवाला पवित्र तप आचरण किया था उस दिन से वहां प्रसिद्ध तीर्थ की स्थापना हुई ॥ १२४ ॥—(पृ० ४९६ ४९७)

उपरान्त भ० नेमिनाथ धर्मचक्र का प्रवर्तन करके पुनः गिरिनार पर्वत पर आ विराजे थे और मुक्त हुए थे। 'हरिवंशपुराण' में इस प्रकरण का उल्लेख निम्नांकित शब्दों में है :—

"जिस समय (भ० नेमिनाथ के) निर्वाण कल्याण का समय समीप आ गया तो अनेक देव-मनुष्यों से सेवित वे गिरिनार पर्वत पर पुनः लौट आये, जिससे कि जैसी पहिले उस पर्वत पर समवसरण की रचना हुई थी वैसी ही फिर हो गई और अपने-अपने स्थानों पर तिर्यंच, मनुष्य और देव स्थित हो गये। भगवान् ने वहां पर ··· परमधर्म का उपदेश दिया। ····· भगवान् ने एक मास पहिले योगों का निरोध कर समस्त अघातिया कर्मों को भी मूल से नष्ट कर दिया और वे अनेक मुनिराजों के साथ निर्वाणशिलापर जा विराजे। ····· गिरिनार पर्वत पर इन्द्र ने परम पावन सिद्धशिला निर्मापी और उसमें भगवान् जिनेन्द्र के समस्त लक्षण वज्र से अंकित कर दिये। ····· समुद्रविजय आदि नौ भाई, देवकी के युगलिया छः पुत्र और कृष्ण के पुत्र शंब और प्रद्युम्न आदि अन्य भी मोक्ष गये। इसलिये उस समय से गिरिनार आदि निर्वाणस्थान संसार में विख्यात हुये और तीर्थयात्रा के लिये आये हुये मनुष्यों से सर्वदा शोभित रहने लगे।"—(पृष्ठ ६१८—६१९)

'हरिवंशपुराण' के उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि भ० नेमिनाथ से पहले गिरिनार-पर्वत यादवों की क्रीड़ाभूमि था—उनके विवाह आदि शुभकार्य गिरिनार पर हुआ करते थे—गिरिनार शैल सुन्दर वन और मनोरम झरनों तथा गंभीर सरोवरों से शोभायमान था—उसकी

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

शिखिरों और गुफाओं में साधु-संत ध्यान किया करते थे। तीर्थङ्कर अरिष्टनेमि ने भी गिरिनार के वन में मुनिदीक्षा ली और उसकी गगनचुम्बी शिखिर पर ध्यान माढ़ा था और वहीं से वह मुक्त हुए थे। इन्द्र ने भगवान् का निर्वाण-स्थल सिद्धपट रच कर अङ्कित कर दिया था। तब से गिरिनार तीर्थरूप में पूजा जाने लगा और सहस्रावधि यात्रिगण उसका दर्शन और पूजन करने के लिये आने लगे। श्रीनागकुमार,[१] करकंडु महाराज प्रभृति[२] अनेक महापुरुष गिरिनगर इस पर्वतराज की वंदना करने आये थे।

सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में जब मगधदेश में विकट दुष्काल पड़ा था तब श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामी संघ-सहित दक्षिणदेश के लिये प्रस्थान कर गये थे। विदित होता है कि उस महती यात्रा के प्रसंग में श्रीभद्रबाहु स्वामी चतुर्विध संघसहित गिरिनार पर्वत पर आये थे[३] और वहाँ से दक्षिण को गये थे। उपरान्त 'श्रुतावतारकथा'—'पट्टावली' 'कथाकोष' आदि ग्रन्थों में भी गिरिनार का उल्लेख हुआ मिलता है। श्वेताम्बर जैन साहित्य में भी गिरिनार की गणना पश्चिम के मुख्य तीर्थों में की गई है। 'शत्रुंजयमाहात्म्य' –'विविधतीर्थकल्प'— आदि ग्रन्थों में गिरिनार का वर्णन है।

शिलालेखों में गिरिनार

साहित्य-ग्रंथों के अतिरिक्त गिरिनार का उल्लेख भारतीय शिलालेखों में भी मिलता है। बहुत से शिलालेख स्वयं गिरिनार पर्वत पर ही मिलते हैं और थोड़े से ऐसे शिलालेख हैं जो दक्षिणभारत में मिले हैं और उनमें गिरिनार का उल्लेख 'उज्जयन्त' नाम से है। हमें यहां पहले गिरिनार पर मिले शिलालेखों का उल्लेख करना अभीष्ट है। गिरिनार पर के शिलालेखों में सर्व-प्राचीन लेख सम्राट् अशोक के हैं, जिनमें उन्होंने पशुओं को नहीं मारने का आदेश किया है।[४] दूसरा प्राचीन लेख छत्रप रुद्रदामा का है, जिसमें गिरिनगर को सुदर्शन झील का वर्णन है। उसमें लिखा है कि ऊर्जयन्त पर्वत की पलासिनी (स्वर्णरेखा) आदि नदियों में बाढ़ आने के कारण सुदर्शन झील का बांध टूट गया था। उस समय इतने जोर का तूफान आया था कि उससे पर्वत की शिखरें, दीवालें, इमारतें और पेड़ आदि सभी गिर पड़े थे। चन्द्रगुप्त मौर्य के साले स्येन पुष्यगुप्त ने उनको बनवाया और जीर्णोद्धार कराया।

१ नागकुमारचरित (कारंजा) देखो। २ करकंडुचरित्र देखो।

३ "सिरि उज्जयंतसिहरे णाणाविह मुणिवरिंद संपुण्णे चउविह संघेण जुदं। सुयसागर पाणं धीरं सिरि भद्दबाहु सामिं णमिसिता गुत्तिगुत्ति मुणिणीहिं परिपुच्छियं पसत्थं अद्धं परढद्दावणं जयणो॥"

—भद्रबाहु-संहिता

४ अशोक के शिलालेख (काशी)

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

था। उपरान्त रुद्रदामा और गुप्तराजाओं के द्वारा सुदर्शन-झील का जीर्णोद्धार किया गया था।[1]

एक अन्य प्राचीन शिलालेख छत्रप द्वरुसिंह का है। डा० बुल्हर ने उसे निम्नरूप में पढ़ा था—भग्न होने के कारण वह उसे पूरा नहीं पढ़ सके थे—

"·····क·····ग ·····छत्रप·····

[स्वामि] चष्टनस्य प्र [पौ] त्रस्य राज्ञः क्षत्रपस्य स्वामि जयदाम पौत्रस्य राज्ञो महाक्ष·····

(चै) त्र शुक्लपक्षस्य दिवसे पञ्चमे [५] इह गिरि नगरे देवासुर नाग यक्ष राक्षसेन्द्र·····

·····प्रक (?) मिव प····· केवलिज्ञानसंप्राप्तानां जितजरामरणानां (।)·····"

इस लेख के विषय में डा० बर्जेस का वक्तव्य द्रष्टव्य है। उन्होंने लिखा है कि "इस लेख में 'केवलिज्ञानसंप्राप्तानां' वाक्य महत्त्वपूर्ण हैं, जिसका प्रयोग जैनशास्त्रों में विशेषरूप से होता है। अत एव यह लेख जैनियों का है। इससे प्रकट है कि यह गुफायें सौराष्ट्र के साही राजाओं ने जैनियों के लिये ईस्वी द्वितीय शताब्दी के अंतिम पाद में खुदवाई थीं। यह भी संभव है कि गुफायें इससे प्राचीन हों। इत्यादि।"[2] इससे स्पष्ट है कि द्वितीय शताब्दी में इन गुफाओं को जैनमुनिगण व्यवहार में लाते थे

गिरिनार के श्री नेमिनाथ-मंदिर की चहारदीवारी में भी डा० बर्जेस सा० को कुछ शिलालेख मिले थे, जिनमें से उल्लेखनीय यह हैं:—[3]

"५० संवत् १२१५ वर्षे चैत्र सुदि ८ रवौ अद्येह श्रीमदूर्जयन्ततीर्थे जगत्यां समस्त

१ The Report on the Antiquities of Kathiawad and Kacchha by James Burgess, p. 129.

२ "The most interesting point about it, is the word 'Kevalijñān-Samprāptānam' 'of those who have obtained the knowledge of Kevalins', which occurs most frequently in the Jaina scriptures, and denotes a person who is possessed of the Kevalajñāna or true knowledge which produces final emancipation.

It would, therefore, seem that the inscription is of Jainas. From this it would appear that these caves were probably excavated for the Jainas by the Sah Kings of Surashtra about the end of the second century of the christian era. They may however, be much older, and the inscription may merely commemorate their being devoted to the Jainas by the Sah Kings. possibly after they had ceased to be used by the Bauddhas; or, the inscription may have been brought from some other caves now entirely destroyed."

—J. Burgess, 'The Report on the Antiquities of Kathiawad & Kachh" (1874-75), pp. 141---143.

[आगे इस पुस्तक का उल्लेख "The Report" रूप में किया जायगा]।

३ The Report, p. 167.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

देवकुलिका सक्कछाजा कुवालि संविरण सर्वे ठ० सालवाहण प्रतिपत्या सू० जसहड ठ० सावदेवेन परिपूर्ण कृता तथा ठ० रुरत्तसुत ठ० परिसालिवाहणेन वागरुरिसिराया परित कारित श्रीचंद्वारिदिवांकृत कंडकमंतिरं तदविधात्री श्रीअंबिकादेवतिमादेवकुलिका च निष्पादिता ॥,,

भावार्थ—'सं० १२१५ में ठाकुर सावदेव और जसहड ने ठा० सालवाहण की स्मृति में श्रीऊज्जयंत पर समस्त देवकुलिकायें परिपूर्ण कीं.....उसी वर्ष में ठा० रुरत्त के पुत्र परि.....ने.....श्रीअम्बिका देवी का छोटा-सा मंदिर निर्मापा।'

डॉ० वर्जेस ने लिखा है कि टॉड सा० को वहाँ पर कुछ ऐसे शिलालेख भी मिले थे जिनसे पुराने मंदिरों को गिरा कर नये मंदिरादि बनवाये जाना प्रकट होता था।[1]

१९ जनवरी सन् १८७५ को श्रीजेम्स बर्जेस सा० ने गिरिनार की यात्रा की थी। अपने विवरण में वह लिखते हैं कि जूनागढ़ से १७५० फीट की ऊँचाई पर जहाँ से सीढ़ियां आरंभ होती हैं वहाँ से कुछ ऊपर निम्नलिखित शिलालेख है :—

"स्वस्ति श्री सम्वत् १६८१ वर्षे १ कार्तिकवदि ६ सोमा श्रीगिरिनार तीर्थनी पूर्वनी पातनो चढ्यावा श्री ढीवतो संघे घोषपा निमित्ते श्रीमालज्ञातीष्यामासिंघजी मेघम्भोने उद्यमे कराव्यो।"

इसमें सीढ़ियों की मरम्मत की जाने का उल्लेख है। इस शिलालेख से २५० फीट ऊपर निम्नलिखित अन्य शिलालेख हैं :—

(१) "सं० १२१२ श्रीश्रीमालज्ञातीयमहं श्रीराणिरासूत दंड श्रीश्रीवाकेन पद्यावा (का) रिता॥"

(२) "सं० ११२३ महं० मीराणीगसुत आवाकेन पद्या कारिता।"

(३) सं० १२२२ श्रीश्रीमालज्ञातीयमहं श्रीराणिगसुत दंडश्री आवाकेन पद्या कारिता।"[2]

जैनमंदिरों के मुख्य द्वार पर गिरिनार गढ़ के शासक चूड़ासमासवंश के राजा मण्डलीक

---

१ "By order of Sri Pandita Devasena Sangha in S. 1215 (A. D. 1158) Chaitra Suddha 8th, sunday, the old temples of the *devatas* were removed and new ones erected."

And in another:—

"In S, 1339 (A. D. 1283) Jyestha Suddha 10th Thursday, the old ruined temples being removed from their sites on the mountain of Revatachala, new ones were erected." —The Report, p. 169.

२ J. Burgess, "Memorandum on the Antiquities at Dabhoi, Ahmedabad, Than, Junagadh Girnar and Dhank" (Bombay 1875), p. 18.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

का विशद शिलालेख है, जिसका प्रारंभ इस प्रकार होता है :—

(४) "मतेः श्रेष्ठ सद्धीमानसो सबोधनापातिम्भया भूप परितागो तुरागागयः त्यो द ।"

इस शिलालेख में गिरिनार का वर्णन निम्नलिखित रूप में मिलता है—

"श्रीउज्जयंतगिरिराजमधिप्रतीते सद्धर्म्मकर्मकरणोद्यमिनां जनानां ।
संनिध्यमोहितमयो गुरुमेघनादा लेशधिप प्रभृतय·····शाः सृजंतु ॥५॥

भावार्थ—"जगदीश और वह जिनकी वाणी मेघगर्जना के तुल्य है सद्धर्म-कर्म-रत भव्य-पुरुषों के लिये श्रीगिरिराज ऊर्ज्जयन्त पर आ विराजमान हों ।"

"नानातीर्थोपवनतटिनीकाननै रम्यहर्म्यैः ।
पौरैर्भूमोपतिपृथुकृतात्यंतसोख्यैरसंख्यैः ।
शश्वद् भूवाभृदपि विपुलो राष्ट्रवर्यः सुराष्ट्रः ।
राष्ट्रो दध्रे ऽनुपमगिरिराट् रैवतालंकृतिं यः ।

भावार्थ—"सुराष्ट्र के श्रेष्ठ राष्ट्र में स्थित अनुपम रवत पर्वत यद्यपि खूब ही समलंकृत है परंतु उसकी शोभा नाना तीर्थों, क्रीडाकुंजों, झरनों, वनों, राजाओं के सुन्दर महलों से और भी बढ़ गई है !"

"मा गा गर्वममर्त्यपर्वत परां प्रीतिं भजन्तस्त्वया ।
भ्राम्यन्ते रविचन्द्रमःप्रभृतयः के के न मुग्धाशयाः ॥
एको रैवतभूधरो विजयतां यद्दर्शनात् प्राणिनो ।
यांति भ्रांतिविवर्जिताः किल महानंदं सुखश्रीजुषः ॥७॥

भावार्थ—"हे अमर पर्वत ! गर्व मत करो ; सूर्य-चन्द्र-नक्षत्र तुम्हारे प्रेम में ऐसे मुग्ध हुए हैं कि रास्ता चलना भूल गए हैं, (वह तुम्हारी ही प्रदक्षिणा देते हैं) किन्तु वही क्या ? ऐसा कौन है जो तुम पर मुग्ध न हो ! जय हो एकमात्र पर्वत रैवत की ; जिसके दर्शन करने से लोग भ्रांति को खो कर आनंद का भोग करते और परम सुख को पाते हैं !"[1] रैवत की पवित्रता में क्या मनोहारी कल्पना है यह !

इसी शिलालेख में राजा मण्डलीक-द्वारा भ० नेमिनाथ के स्वर्णखचित मंदिर-निर्माण का उल्लेख है। (अत्राभून्नृपमंडलीनतपदः श्रीमंडलीकः क्रमात् । प्रासाद गुरु हेमपत्रततिभिर्यः-चीकरन्नेमिनः (?) ॥९॥)

वहीं पास में ही मंत्रिप्रवर वस्तुपाल-तेजपाल का शिलालेख है, जिसमें भी गिरिनार का

१ The Report, p. 160. भावार्थ अंग्रेजी अनुवाद के आधार से लिखा गया है।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

सुंदर उल्लेख है। एक अन्य शिलालेख इस प्रकार है:—[१]

"ॐ नमः सर्वज्ञाय संवत् १४८५ वर्षे कार्तिक सुदि पंचमि ५ बुधे श्रीगिरिनार माहे तिष्ठा सा षेत सिंह निवाण श्रीमंत्रि दलीपवंशे श्रीमत् सुमायड़ गोत्रे मतिवाण ठ० अदा प्रजा ठा० लासु ततराल ठा० ————ठा० षेत सिंह भार्या बाई चंदणगद्दी श्री नेमिनाथ चरण प्रणमति शुभ।"

श्रीनेमिनाथ मंदिर की दालान में एक पटिया पर निम्नलिखित लेख चरण-चिह्नों सहित अङ्कित है। डा० बर्जेस ने उसे अपने संग्रह में नं० २८ पर यों लिखा है:—[२]

"हर्षकीर्तिजी पादुका"

"संवत् १६९२ श्रीमूलसंघे श्रीहर्षकीर्ति श्रीपदाकीर्ति भुवनकीर्ति ब्र० अमर सिंभाण-मनजी पं० वीर जैयंत माइदासदयाला तेसां ९ नेमियात्रा सफलास्तु ॥ ॥"

यह शिलालेख दिगम्बर जैन मूलसंघानुयायी भ० हर्षकीर्ति एवं उनके शिष्यों की यात्रा का स्मारक है।

श्रीगिरिनारक्षेत्र पर इन शिलालेखों के अतिरिक्त मंदिरों और मूर्तियों पर अङ्कित और भी शिलालेख होंगे और उनमें भी गिरिनार का उल्लेख होना संभव है। कदाचित् पुण्य-संयोग से हमें तीर्थराज की वंदना करने का सुअवसर प्राप्त हुआ तो उन्हें भी प्रकट कर सकेंगे; अन्यथा वहां के प्रबन्धकों पर ही उनको प्रकाशित करना निर्भर है।

गिरिनार के अतिरिक्त दक्षिण भारत के उडुपि तालुका के कापू नामक स्थान से प्राप्त शिलालेख में भी गिरिनार का उल्लेख ऊर्जयन्त नाम से हुआ है। सन् १५५६ में मह हेग्गडे नामक जैन सरदार ने देवचंद्रदेव को भूमिदान दिया था और उस दानपत्र के अन्त में लिखा था कि जो कोई श्रावक इस दान को मेंटेगा उसे बेल्गोल के गोम्मटनाथ, कोपण के चंद्रनाथ और ऊजयन्तगिरि के नेमीश्वर की मूर्तियों को खंडित करने का पाप लगेगा[३]। इससे स्पष्ट है कि कापु के जैनी ऊर्जयंत गिरि (गिरिनार) तीर्थ से खूब परिचित थे। यही बात गेरसोपे (नगरी) के जैनियों के लिये भी कही जा सकती है। सन् १५२३ में वहाँ के शासक देवभूप ने शङ्क जिन-बस्ति के लिये भूमिदान दिया था और दानपत्र के अन्त में लिखा था कि जो इस दान को मेटे उसे ऊर्जंतपर्वत पर ऋषिहत्या का पाप लगे[४]। इस उल्लेख से यह भी प्रकट होता है कि गेरसोपे के जैनियों को गिरिनार पर मुनिजनों के आवास का भी

१ Memorandum on the Antiquities at Dabhoi, Ahmedabad, Than. Junagadh Girnar & Dhank, pp. 31-32.

२ Ibid. p. 32.

३ Madieaval Jainism, p. 360.

४ Ibid, p. 343.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

विश्वास था। निस्सन्देह गिरिनार पर एक प्राचीनकाल से दिगम्बर जैन मुनिसंघ के अस्तित्व का पता श्रावकों को रहा है। केलदिय सदाशिवनायक के एक ताम्र-शासन में भी गिरिनार का उल्लेख इस प्रकार से हुआ है :— "इस (धर्म) के प्रतिकूल चलनेवाला जैनी बेलगोलस्थ गुम्मटनाथ, कोपणस्थ चन्द्रनाथ, ऊर्जयन्तगिरिस्थ नेमिनाथ आदि जिन-प्रतिमाओं को फोड़ने के पाप-भागी होंगे[1]।" इनके अतिरिक्त खोज करने से और भी लेखों में गिरिनार का उल्लेख मिल सकता है। दक्षिण के दूरवर्ती स्थानों के लेखों में उसका नामोल्लेख गिरिनार की विशेष प्रसिद्धि का प्रमाण है! भक्त श्रावक उस महातीर्थ को भला कैसे विस्मरण करते!

इतिहास

उपर्युक्त वर्णन को देखते हुए यह निष्कर्ष निकलता है कि तीथरूप में गिरिनार की प्रसिद्धि तीर्थङ्कर अरिष्टनेमि के समय से हुई थी। तीर्थङ्कर नेमि ने वहाँ पर दिगम्बरी दीक्षा ग्रहण कर के तप तपा उपदेश दिया, शिवसुंदरी को वरा और उनके साथ अनेकानेक मुनिगण मुक्त हुए[2]। इसीलिये वह जैनियों का प्रधान तीर्थ है। विदित होता है कि गिरिनार पर दिगम्बर जैनियों की प्रधानता प्राचीनकाल से रही थी। वैसे तो जैन संघ में मतभेद की जड़ मौर्यकाल में ही पड़ गई थी; परन्तु दिगम्बर और श्वेताम्बर धारायें ईस्वी प्रथम शताब्दी में बिल्कुल पृथक् हो गई थीं[3]। दिगम्बराम्नायी मुनियों और मूर्तियों के दिगम्बर (यथाजात-नग्न) भेष के उपासक रहे। इसके विपरीत श्वेताम्बरों ने यथानाम श्वेत वस्त्रधारी साधुओं और वस्त्राभूषणाङ्कित प्रतिमाओं की उपासना आरम्भ की। उपर्युक्त दिगम्बर जैन एवं हिन्दूपुराण से स्पष्ट है कि तीर्थङ्कर नेमिनाथ दिगम्बर मुनि हुए थे—उन्होंने गिरिनार पर्वत पर समस्त वस्त्राभूषणों को तिलाञ्जलि दे दी थी। उन दिगम्बर मुनिराट् तीर्थङ्कर नेमि की मूर्तियां भी दिगम्बरभेष में बनना उपयुक्त हैं। खेद है कि गिरिनार पर की प्राचीन प्रतिमायें और मंदिर बहुत पहले ही नष्ट-भ्रष्ट किये जा चुके हैं—ऊपर पाठकगण पढ़ चुके हैं कि गिरिनार के प्राचीन स्मारकों को प्रकृति और पुरुष-दोनों का ही कोपभाजन बनना पड़ा था। किन्तु गिरिनार से सटा हुआ ढँक नामक स्थान अपनी प्राचीनता को अब भी अक्षुण्ण बनाये हुये है। वहाँ की मूर्तियाँ काठियावाड़ में सर्व-प्राचीन हैं और वे दिगम्बर जैन मूर्तियाँ हैं। वहाँ भ० नेमिनाथ की

१ Epigraphia Indica, Pt. V. (1931) p. 94 जैनसिद्धांत-भास्कर भा० ५, (प्रशस्ति-संग्रह) पृ० १२४,

२ "णेमिसामि पज्जणणो सम्बुकुमारो तहेव अणिरुद्धो।
बाहत्तर कोडीओ उज्जंते सत्तसया सिद्धा॥"—णिव्वाणकांड-गाहा।

३ संक्षिप्त जैन इतिहास भा० २, ख० १, पृष्ठ २१४-१६।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

शासनदेवता अम्बिकादेवी की भी मूर्ति हैं। तीर्थङ्करों की कई नग्न मूर्तियाँ हैं; जिनमें भ० नेमिनाथ की मूर्ति होना भी संभव है। इन मूर्तियों के आधार से यह अनुमान किया गया है कि काठियावाड़ में ईस्वी प्रथम शताब्दी से तृतीय शताब्दी तक दिगम्बर जैन धर्म की प्रधानता रही थी[१]। बल्कि इसका अस्तित्व इससे भी प्राचीन होना उपयुक्त है। 'गर्गसंहिता' के ऐतिहासिक उल्लेख से स्पष्ट है कि मौर्यसम्राट् सालिसूक ने सौराष्ट्र में जैनधर्म का प्रचार किया था।[२] और यह पहले ही लिखा जा चुका है कि श्रुतकेवली भद्रबाहु जी संघसहित गिरिनार पर पधारे थे। सम्राट् चंद्रगुप्त मौर्य भी उनके साथ में थे। उन सम्राट् के प्रपौत्र संप्रति ने भी सौराष्ट्र में जैनधर्म का प्रचार किया था और मंदिरादि निर्मापे थे; किन्तु खेद है कि आज उन प्राचीन इमारतों का पता नहीं है—उनकी जगह नई इमारतों ने ले ली है। पूर्वोल्लिखित छत्रप रुद्रसिंह के गुफालेख से स्पष्ट है कि उनके समय में गिरिनार की गुफाओं में जैनमुनिगण रहा करते थे। उधर 'श्रुतावतार' प्रकरण से लगभग उसी समय गिरिनगर (जूनागढ़) की चन्द्रगुफा में दिगम्बर जैनाचार्य श्रीधरसेन स्वामी का अस्तित्व प्रमाणित होता है[३]। यहीं से उन्होंने दक्षिणापथ के दि० जैन संघ को लिख कर दो मेधावी मुनिपुंगवों को श्रुतोद्धार के लिए बुलाया था और उनके द्वारा अवशेष श्रुतज्ञान की रक्षा और लिपि कराई थी। संभव है कि उपर्युक्त गुफालेख में इस घटना का उल्लेख हो, क्योंकि उसमें प्रयुक्त वाक्य से स्पष्ट है कि किन्हीं महानुभाव को 'केवलि भगवान् का ज्ञान प्राप्त' हुआ था। उधर श्रुतावतारकथा से यह स्पष्ट है ही कि धरसेनाचार्य जी से श्रीभूतबलि और पुष्पदंत आचार्यों को केवली भगवान् द्वारा निरूपित ज्ञान का शेषांश उपलब्ध हुआ था। जो हो, यदि वह गुफालेख पूर्ण होता तो इतिहास के लिये विशेष महत्त्वशाली था।

'दि० जैन पट्टावली' से यह भी पता चलता है कि श्रीकुंदकुंदाचार्य जी के समय में गिरिनार पर्वत की वंदना करने के अधिकार का प्रश्न जैनियों में उठ खड़ा हुआ था—दिगम्बर अपना अधिकार बताते थे और श्वेताम्बर अपना। आखिर यह ठहराव हुआ कि जो गिरिनारस्थ सरस्वती देवी की मूर्ति को वाचाल कर दे वही अधिकारी माना जाय। श्रीकुंदकुंदाचार्य जी ने उस मूर्ति के मुख से कहलवा दिया कि 'दिगम्बरमत प्राचीन है।' इसलिये पर्वत का अधिकारी वह माना गया।* मालूम नहीं यह कथन कहाँ तक ठीक है? क्योंकि

१ जैन सिद्धांतभास्कर, भा० ५, कि० ३, पृ० १७१-१७२।
२ संक्षिप्त जैन इतिहास, भा० २, ख० २, पृ० ७।
३ जैन सिद्धांतभास्कर, भा० ३, पृ० १२६-१३३।
* "पद्मनंदिगुरुर्जातो बलात्कारगणाग्रणी। पाषाणघटिता येन वादिता श्रीसरस्वती॥
ऊर्ज्जयन्तिगिरौ तेन गच्छः सारस्वतो भवेत्। अतस्तस्मै मुनीन्द्राय नमः श्रीपद्मनंदिने॥"
(कुंदकुंदाचार्य का अपर नाम पद्मनंदी भी था। अबूज़ैबुलहसन नामक यात्री (९ वीं श०) भारतीय मूर्तियों के बोलने का उल्लेख करता है।—Ancient Acctts. of India & China, p. 35.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

इसका समर्थन अभीतक किसी अन्य प्राचीन ग्रन्थ अथवा शिलालेख से हुआ—हमारे देखने में नहीं आया है। किन्तु दिगम्बर-सम्प्रदाय की यह दृढ़ मान्यता है और इसी कथा के आधार पर उसके 'सरस्वतीगच्छ' की उत्पत्ति कही जाती है।

जो हो, उपर्युक्त पंक्तियों के पढ़ने से ईस्वी प्रारंभिक शताब्दियों में गिरिनार पर दिगम्बर जैन मुनियों का अस्तित्व एवं उनका प्राबल्य स्पष्ट है।

गुप्त राजत्व-काल एवं उसके उपरांत काल में गिरिनार का इतिहास बताना सुगम नहीं है। परन्तु इसी समय में हुए 'हरिवंशपुराण' के रचयिता श्रीजिनसेनाचार्य स्पष्ट लिखते हैं कि "गिरिनार तीर्थ की वंदना करने अनेक यात्री आते हैं।" और उपरान्त की साहित्य-साक्षी गिरिनार पर जैनों का अधिकार प्रकट करती है। उससे यह भी जाहिर है कि दिगम्बर और श्वेताम्बर-सम्प्रदायों में परस्पर पर्वत के अधिकार-विषय को लेकर झगड़ा चला था। श्वेताम्बरीय ग्रन्थों से वहां पहले-से दिगम्बर-सम्प्रदाय का प्राबल्य स्पष्ट है।

श्वेताम्बराचार्य श्रीरत्नमन्दरगणिकृत 'उपदेशतरंगिणी' में ऐसा उल्लेख है। उसमें स्पष्ट लिखा है कि तब वह तीर्थ पचास वर्ष से दिगम्बरों के अधिकार में था। संघपति धाराक ने उस पर अधिकार करना चाहा, परन्तु गिरिनार के किलेदार खङ्गार ने उन्हें मार भगाया। धाराक ग्वालियर गये और बप्पभट्टि के शिष्य नृप अम्म को लिवा लाये; परन्तु अम्म गिरिनार पहुंचे या नहीं, यह अस्पष्ट है। वह खङ्गार से लड़े नहीं। श्वेताम्बराचार्य ने अम्बिका देवी की मूर्ति को वाचाल करके अपना अधिकार घोषित कर दिया[1]। किन्तु यह कथन श्वेताम्बरों के दूसरे ग्रन्थ 'सुकृतसागर' के वर्णन से बाधित है। उसमें लिखा है कि दिल्ली के दिगम्बर जैनी सेठ पूर्णचन्द का संघ गिरिनार की वंदना करने आया था और तीर्थ को अपना बताता था[2]। यह सेठ पूर्णचन्द्र सुलतान अल्लाउद्दीन द्वारा मान्य थे, इसलिये उनके समकालीन थे। 'रासमाला' से स्पष्ट है कि सिद्धराज के बाद हुए राजा कर्ण के शासनकाल में अलाउद्दीन ने गुजरात पर आक्रमण किया था[3]। इसका अर्थ यह होता है कि 'सुकृतसागर' में 'उपदेशतरंगिणी' के गिरिनार-प्रकरण से बाद का विवरण है और उससे भी दिगम्बरों का प्राबल्य और अधिकार उस तीर्थराज पर प्रकट होता है; क्योंकि जिन अम्मनृप का उल्लेख 'उपदेशतरंगिणी' में है वह सन् ७२५ में हुए थे[4]। 'सुकृतसागर' से यह भी स्पष्ट है कि गिरिनार के प्राचीन मंदिर में मूलनायक भ० नेमिनाथ की प्रतिमा आभरणादि-

१ जैनहितैषी, भा० १५, पृ० १३३-१३४।
२ पूर्व०, पृ० १३२-१३३।
३ फार्बस, रासमाला, पृ० २१४—२१५।
४ टॉड, दी जैन बायोग्रे फिकल डिक्शनरी, पृ० ५६।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

रहित नग्न (दिगंबर) थी। अतः गिरिनार तीर्थ पर दिगम्बर-सम्प्रदाय की प्रधानता स्वयं श्वेताम्बरीय ग्रन्थों से सिद्ध है।

'उपदेशतरंगिणी' में श्वे० संघपति धाराक से गिरिनार के किलेदार खंगार लड़ने आये लिखा हैं। इससे प्रकट होता है कि यह खंगार दिग० जैनों के संरक्षक थे। जूनागढ़ पर शासन करनेवाले राजवंशों में चूड़ासमास राजवंश भी एक था। यह राजवंश यदुकुल से समुद्भूत था। चूड़ासमासवंश के राजाओं के पूर्वज दसवीं शताब्दी में सिंधु देश से आकर जूनागढ़ के अधिकारी हुये थे और अपने पूर्वज चन्द्रचूड़ के नाम से 'चूड़ासमास' कहलाते थे। इन राजाओं का किला गिरिनार पर था और इन में खंगार नाम के एक से अधिक राजा हुए हैं। उपर्युक्त किलेदार खंगार इसी वंश के राजा प्रतीत होते हैं।

चूड़ासमासबंश के राजा

इस वंश के राजाओं पर यहां पर एक सरसरी नजर डाल लेना अनुपयुक्त नहीं है। वे यों हैं:—

(१) चन्द्रचूड़, (२) मूलराज (सन् ९०७), (३) विश्ववराह, (४) रा गाहर सिंह, (५) रा कवाट (९८२ ई०) जो आबू के राजा आनो से लड़े और उसे दस दफा कैद करके छोड़ा, (६) रा दयास (१००३) पाटन के राजा ने इसे मार कर राज्य छीना, (७) उपरान्त इसका पुत्र रा नौधन राजा हुआ, (८) रा खेंगार, (९) नौधन II, (१०) रा खेंगार II ने पाटन को जीता, परन्तु सिद्धराज ने उसे युद्ध में प्राणरहित किया और उसकी रानी रानिक देवी को ले गया। किन्तु रानिक देवी ने अपने प्राण देकर शीलधर्म की रक्षा की थी। सोरठ में रानिक देवी के विरह-विलाप के गीत खूब गाये जाते हैं। (११)नौधन III जो सन् ११४० में स्वर्गवासी हुआ, (१२) कवाट II, (१३) जय सिंह, (१४) राय सिंह, (१५) महीपाल, (१६) जयमल, (१७) रा मेहेपरे (१२३०), (१८) रा खेंगार III (१२५३) इसके मन्त्री कल्याण सेठ थे। रा खेंगार ने एक सेठ की पत्नी से अनुचित व्यवहार करना चाहा था, परन्तु उस वीराङ्गना के हाथ से स्वयं उसे अपने प्राणों से हाथ धोने पड़े थे, (१९) रा मंडलीक—यह आलघ खां से लड़े थे और यवनों को मार भगाया था। गिरिनार पर भ० नेमिनाथ का स्वर्णपत्र-खचित भव्य मन्दिर निर्माण कराया था। (२०) महीपाल III, (२१) खेंगार (१३२५), (२२) रा जय सिंह II, (२३) महीपाल IV, (२४) मुक्तासिंह (२५) मंडलीक, II (२६) मेलक (२७) जयसिंह, (२८) महीपाल, (२९) मंडलीक (१४५१)—इसका मन्त्री सेठ वीसल था, जिसकी पत्नी मोहिनी को उसने बलात्कार गृहणी बनाया। वीसल सुलतान महमूद को चढ़ा लाया, जिसने सन् १४७३ में आखिर उसे नष्ट किया और उसके पुत्र, (२९)

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

भूपति सिंह को जागीरदार बनाया (!) (३०) खेंगार, (३१) नौघन (१५२५), (३२) श्रीसिंह, (३३)खेंगार जूनागढ़ से हटकर सिलबगसर में जा रहे[1] । इसके पश्चात् मुसलमान राजाओं का अधिकार जूनागढ़ पर हो गया।

इन राजाओं में राज खेंगार प्रथम अथवा द्वितीय ही वह किलेदार खंगार प्रतीत होते हैं जो श्वेताम्बरीय संघपति धाराक से लड़े थे। वह स्वयं दिग० जैनधर्म के संरक्षक थे और उनके वंशज रा मंडलीक भ० नेमिनाथ के परम भक्त थे। उन्होंने नेमिनाथ भ० का मनोहारी मंदिर बनवाया था, जिसमें मूलनायक प्रतिमा पहले दिगम्बर (नग्न) थी। इनके अतिरिक्त इस वंश के और कौन से राजा जिनेन्द्रभक्त रहे, यह अन्वेषण करने का विषय है।

कुछ समय के लिये जब सोलंकी राजा जूनागढ़ के अधिकारी हुए तो उन्हों ने भी गिरिनार पर मंदिरादि बनवाये थे। सिद्धराज के दंडनायक सज्जन ने पुराने मंदिर के स्थान पर एक नया पाषाण मन्दिर निर्मापा था[2] । सम्राट् कुमारपाल के समय में गिरिनार पर्वत पर सीढ़ियां बनाई गई थीं।

सारांश यह कि सोलंकियो के समय से ही श्वेताम्बर जैनों का प्राबल्य गिरिनार पर हो गया था परन्तु उस समय यह विशेषता थी कि चाहे जिस सम्प्रदाय का प्राबल्य रहा हो, वंदना करने के लिये सब स्वाधीन थे—भगवान् नेमि की भक्ति करने दिगम्बर और श्वेताम्बर साथ-साथ जाते थे। राजमन्त्री वस्तुपाल-तेजपाल के संघ में श्वेताम्बरों के साथ ११०० दिगम्बर जैनी भी थे[3]। गर्ज यह कि पहले परस्पर मैत्री भाव था और प्रत्येक जैनी एक दूसरे के उत्सव में सहयोग देता था। आज भी यह सुखद स्थिति वाञ्छनीय है!

वर्तमान रूप

गिरिनार के वर्तमान रूप का यथार्थ परिचय दर्शन करने से ही सम्बन्ध रखता है। पूर्व दर्शकों के आधार से यहां कुछ परिचय लिखना अनुपयुक्त नहीं है। कहा जाता है कि गिरिनार के पांच मुख्य शिखर हैं:— १) अम्बामाता (२) गोरखनाथ—यह सब में ऊंचा—समुद्रतल से ३६६६ फीट ऊंचा है, ३) ओघडशिखर, (४) गुरुदत्तात्रेय और (५) कालका, जहां अघोरी रहते है। चूड़ासमास राजाओं के किले के खण्डहर भी अवशेष हैं। मंदिरों के अतिरिक्त गिरिनार पर तीन प्रसिद्ध कुण्ड हैं; जो 'गोमुखी'—'हनूमानधारा' और 'कमंडलकुंड' कहलाते हैं। 'भैरवजप' नामक पाषाण एक दर्शनीय वस्तु है। पहले उस पर से कूद कर पाखण्डी लोग स्वर्ग पाने के लोभ में अपने प्राण दिया करते थे। 'रेवतीकुंड' के

१ बम्बई गैजेटियर भा० ८, पृ० ४६४—५६५।

२ प्रबन्धचिन्तामणि—बम्बई गैजेटियर, भा० १, ख० १, पृ० १७६-१७७।

३ कीर्तिकौमुदी—बम्बई गैजेटियर, भा० १, ख० १, पृ० २०२।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

ऊपर ही 'रेवताचल' पर्वत है, जिसकी तलहटी में अशोक के धर्मलेख है। आगे पोलीटिकल एजेण्ट सुंदर जी को बनवाया हुआ पलासिनी नदी का सुन्दर पुल है।[1]

तलहटी में एक श्वेताम्बरी और एक दिगम्बरी धर्मशाला है। दिगम्बरी धर्मशाला में दो और श्वेताम्बरी धर्मशाला में एक जिनमंदिर है। दिगम्बरीयों की एक धर्मशाला जूनागढ़ में भी है। गिरिनार तीर्थ का प्रबन्ध करनेवाली एक कमिटी है, जिसका प्रधान कार्यालय प्रतापगढ़ (मालवा) में है और वह "श्रीवंडीलाल जी दि० जैनकारखाना श्री गिरनार" के नाम से प्रसिद्ध हैं। दि० धर्मशाला से कोई सौ क़दम के फासले पर पर्वत पर चढ़ने का द्वार है। जूनागढ़ के भूतपूर्व दीवान बेहचरदास बिहारीलाल और डॉ० त्रिभुवनदास मोतीचंद शाह के उद्योग से 'जूनागढ़ लॉटरी' की उपज-द्वारा काले पत्थर की मजबूत सीढियाँ गिरिनार ज पर्वत की चारों टोकों तक लगवाई गई हैं। उपर्युक्त द्वार से ही पर्वत पर चढ़ने की सीढ़ियाँ शुरू होती हैं। जूनागढ़-राज्य पर्वत पर चढ़ने का कर लेता है। लगभग तीन हज़ार से अधिक सीढ़ियाँ चढ़ने पर इस पर्वत की पहली टोंक मिलती है। यहाँ पर एक-एक धर्मशाला दिगम्बरियों और श्वेताम्बरियों की है। इस टोंक पर ही जैनियों के मुख्य मंदिर हैं—अन्य टोकों पर चरणचिह्न अथवा छोटी-छोटी देवकुलिकायें हैं। अधिक मंदिर श्वेताम्बर-सम्प्रदाय के हैं।[2] इनमें एक प्राचीन मंदिर 'ग्रेनिट' पाषाण (granite) का है, जिसकी मरम्मत संवत् ११३२ में सेठ मानसिंह भोजराज ने कराई थी। कर्नल टॉड सा० यह मंदिर दिगम्बर जैनियों का बतलाते हैं[3]। जो हो, अब यह मंदिर श्वेताम्बर भाइयों के अधिकार में है और इसमें अब मूलनायक संभवनाथ की प्रतिमा विराजमान है। बर्जेस साहब ने श्वेताम्बरों द्वारा इसका जीर्णोद्धार होते देखा था। दूसरी टोंक नेमिनाथ स्वामी की है। इसमें भी कई मंदिर हैं, जिनमें एक मंडलीक राजा का बनवाया हुआ है। तीसरी टोंक मेरकवंशी की कहलाती है, जिसकी कारीगरी दर्शनाय है। मंदिरों का चौथा समूह सगराम सोनी की टोंक कहलाता है। संवत् १८४३ के लगभग सेठ प्रेमाभाई हेमाभाई ने इन मंदिरों की मरम्मत कराई थी। इसके आगे कुमारपाल की टोंक है। श्रीअभिनन्दन जिन का मंदिर उन्हीं का बनवाया हुआ है। इस मंदिर के बाहर भीमकुंड के पूर्व में बहुत-सी प्राचीन खंडित प्रतिमायें पड़ी हैं। इसके बाद 'वस्तुपाल तेजपाल जी' की टोंक है, जिसमें तीन

१ Watson, Statistical Acctt. of Junagadh, pp. 76-77.

२ दिगम्बर जैन डायरेक्टरी, पृ० ७६०—७६१।

३ "To the east of the Devakota, there are several temples, the principal being the temple of Man Singh Bhoja Raj of Kacchh—an old granite temple near the entrance gate, which Tod call a Digambara Temple of Neminatha."

—The Report p. 169.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

मंदिर हैं। इन मन्दिरों में पीले रंग का और सलीका बढ़िया पत्थर काम में लाया गया है। कहते हैं यह पत्थर वस्तुपाल ने भारतवर्ष के बाहर से मंगाया था। इन तीनों मंदिरों के मूलनायक पार्श्वनाथ हैं। इसके बाद संप्रति राजा की टोंक है। यहां का मंदिर सम्प्रति राजा का कहलाता है, परंतु वर्तमान में इस बात का कोई चिह्न नहीं मिलता है। एक जगह कुछ गहराई में राजुल की गुफा है, जिसके भीतर राजमती जी की एक खड़ी मूर्ति सफेद पत्थर की है।

दिगम्बरी मन्दिरों में से एक प्रतापगढ़-निवासी श्रीबंडीलाल जी का संवत् १९१५ का बनवाया हुआ है। और दूसरा लगभग इसी समय का शोलापुरवालों का बनवाया हुआ है। पहले मंदिर में श्रीशान्तिनाथ जी की एक मूर्ति सं० १६६५ की प्रतिष्ठा की हुई है और एक सुप्रसिद्ध बिम्ब-प्रतिष्ठापक सेठ जीवराज पापड़ीवाल की सं० १४७५ की है। दिगम्बरी मन्दिरों को आगे दाहिनी ओर चौमुखी मन्दिर है। फिर रथनेमि का मन्दिर है जो श्वे० आम्नाय में मान्य है।

यहीं से अंबा जी की टोंक पर जाने का रास्ता है। अम्बादेवी के मन्दिर को जैनी और वैष्णव दोनों पूजते हैं।[1] बर्जेस सा० का अनुमान है कि यह मन्दिर पहले जैनियों या बौद्धों का था।[2] अंबा जी की टोंक से आगे चलने पर तीसरी टोंक आती है, जिस पर पहले नेमिनाथ भगवान् के चरण मिलते हैं। वहीं गोरखनाथ के चरण हैं।

इस टोंक से लगभग ४००० फीट नीचे उतर कर चौथी टोंक पर जाना पड़ता है। चढ़ाई कठिन है। टोंक के ऊपर एक काले पाषाण पर नेमिनाथ जी की प्रतिमा तथा दूसरी शिला पर चरण हैं। कोई इसी टोंक पर से भ० नेमि का निर्वाण हुआ बताते हैं और कोई पांचवीं टोंक से। इसी टोंक से नीचे उतर कर पांचवीं टोंक पर सीढ़ियों से चढ़ना पड़ता है। यह शिखर सब से ऊँचा है और चारों ओर का दृश्य अत्यन्त मनोहारी है। टोंक पर एक मठिया के नीचे नेमिनाथ भगवान् के चरण स्थापित हैं और एक बड़ा भारी घंटा बंधा हुआ है। बर्जेस सा० ने भ० नेमिनाथ की इस पादुका को पाषाण में उकेरा हुआ लिखा है, जिसपर एक देवकुलिका (मठिया) बनी हुई थी। एक नंगा साधु उनकी देखभाल करता था। दिगम्बर जैनी इसकी विशेष पूजा करते हैं, यह बात बर्जेस सा० ने लिखी है।[3] नेमिनाथ के इन चरणों को वैष्णव लोग भी गुरुदत्तात्रेय के चरण कह कर पूजते हैं और मुसलमान

१ दिगम्बर जैन डायरेक्टरी, पृ० ७६३-७६४।

२ The Report; p. 175.

३ ".....Neminath or Aristanemi, who gives his name to this sunnmit... is the 22nd of their deified saints..... This one is the favourite object of worship with the Digambars or naked Jains" —Burgess, The Report, pp. 175,

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

मदारशा पीर का तकिया कहते हैं। इस स्थान से नेमिनाथ स्वामी के प्रथम गणधर वरदत्त का निर्वाण हुआ था।[१] संभवतः गणधर वरदत्त को ही वैष्णव गुरु दत्तात्रेय कह कर पूजते है।[२]

इस टोंक से उतरने पर रेणुका शिखर मिलता है और फिर कालिका टोंक आ जाती है। इन टोंकों पर कोई जैनी नहीं जाता—इन पर जाना है भी भयंकर!

दूसरी टोंक के पास गोमुखी से दाहिनी ओर को एक सपाट रास्ता सहसावन या सेसावन को जाता है—यह सहस्राम्रवन का अपभ्रंश है। कहते हैं, यहाँ पर नेमिनाथ स्वामी ने कुछ समय तपस्या की थी। यहां पर कई गुफायें और कुंड हैं। गुफाओं में अपरकोट और बाबा प्यारा की गुफायें जैनियों की अनुमान की जाती है।

नेमिनाथ जी के मंदिर-समूह में एक तलगृह-मन्दिर में श्रीपार्श्वनाथ की प्रतिमा है। कहते हैं कि उसकी ठोड़ी से हमेशा एक बूंद पानी टपकता है। इसीलिए उसे 'अमीजरा पार्श्वनाथ' कहते हैं। बाटसन सा० ने इस प्रतिमा के कई बार दर्शन किये, परंतु पानी कम बरसने के कारण उन्हें जल की बूंद टपकती नहीं दिखाई पड़ी। यह भी कहा जाता है कि चढ़ाई में यात्रियों के विश्राम लेने के लिए छै 'परब' (Rest houses) हैं: (१) छोटा परब (२) छोर परब (३) धोव परब (४) काली परब (५) माली परब (६) और सुवावड़ी परब।[३]

उपसंहार

गिरिनार पर्वत की इस प्रकार यह सामान्य रूपरेखा है। पाठकगण इसको पढ़ें और गिरिनार का पवित्रता का अनुभव करें, जिसने मनुष्य को प्रेम-सूत्र में बांधने का मनोरम पाठ पढ़ाया है! किन्तु आश्चर्य है कि इस पर भी हम भारतवासी परस्पर एक दूसरे को घृणा की दृष्टि से देखते है और साम्प्रदायिक विद्वेष में बहे जाते हैं। जैनी गिरिनार को अहिंसा के प्रतिपादक शिवरूप नेमिनाथ-द्वारा पवित्र हुआ मानते हैं—ब्राह्मण लोग भी शिवजी को अहिंसा-सत्यादि का प्रतिपादक बता कर उन्हीं के कारण गिरिनार को पूज्य मानते हैं और उनका जाप 'शिवनेमिनाथ' के नाम से देते हैं। यहां भी वही बात है। हमारे मुसलमान पड़ोसी उसी तीर्थ को पूजते हैं और ज़ियारत के वक्त अहिंसक बने रहते हैं! कैसा है प्रभाव गिरिराज गिरिनार का! निरन्तर जय हो गिरिराज की!

---

१ दिगम्बर जैन डायरेक्टरी, पृ० ७६४।

२ ब्राह्मण लोग दत्तात्रेय का यथार्थ नाम दत्त आत्रेय बताते हैं। आत्रेय उनका गोत्र था। गणधर वरदत्त का गोत्र क्या था? यह गवेषणीय है।

३ Statistical Acctt. of Junagadh, p. 77.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

सार 'जैन ऐन्टीक्वेरी'

(जून १९३९)

पृ० १—८ प्रो० चक्रवर्ती ने तामिल जैन साहित्य के काव्यों का परिचय कराया है। तामिल भाषा के पांच महाकाव्यों में से तीन (१) चिन्तामणि (२) शीलप्पदिकारम् (३) और वलैयापति नामक महाकाव्य जैनियों की रचनायें हैं। चिन्तामणि सर्वोत्कृष्ट काव्य है। 'शीलप्पदिकारम्' का महत्त्व विशद है। इसकी रचना चेरवंशी राजा चेरलादन के पुत्र राजकुमार इलंगोबडिगल थे, जो मुनि हो गए थे। जब वह वंजीके जिनमंदिर में थे तब किन्हीं पहाड़ी लोगों ने एक आश्चर्यमयी घटना उनसे आकर कही। उसी घटना के आधार से शील का माहात्म्य प्रकट करने के लिए यह काव्य रचा। चोलदेश का राजधानी पुहार में माशात्तुवन नामक श्रेष्ठी थे, जिनके पुत्र का नाम कोवलन था। कोवलन का व्याह कण्णकि से हुआ था। वे दोनों अलग एक घर में रहते थे। खूब दान-पुण्य करते थे। इत्तफाक़ से कोवलन का प्रेम माधवी नामक वेश्या से हो गया और वह अधिकतर उसी के साथ रहने लगा। कण्णकि को दुःख हुआ ज़रूर, परंतु पतिदेव की उसने ज़रा भी अवज्ञा नहीं की—अपना दुःख तक उन पर प्रकट नहीं किया। सारी सम्पत्ति वेश्या-सेवन में नष्ट हो गई। घटनावश कोवलन और माधवी का परस्पर सम्बन्धविच्छेद हो गया। वह घर आया। कण्णकि ने उसका ढाढ़स बंधाया और उसे अपने दो कड़े उतार देकर कहा कि इनके रुपये उठाकर व्यापार करो। पति-पत्नी पाण्ड्यदेश की राजधानी मदुरा गए जो जैनधर्म का केन्द्र था। वहां कोवलन ने एक कड़ा बेंचने के लिए राजा के सुनार को दिया। उसने राजा को उल्टी-सीधी सुझा कर कोवलन को चोरी के अपराध में फांसी का दण्ड दिलाया। बेचारा कोवलन बेमौत मरा। कण्णकि ने राजा को उसकी भूल सुझाई। राजा अपनी ग़लती पर ऐसा परेशान हुआ कि उसका भी प्राणान्त हो गया। कण्णकि ने मदुरा के नष्ट होने का शाप दिया और अपनी छाती नोच कर फेंक दी और जाकर पतिमिलन की प्रतीक्षा करने लगी। कोवलन स्वग में देव हुआ था—वह उससे आकर मिला। यह इस काव्य का संक्षिप्त भाव है। अन्त में चेर राजा के ऐश्वर्य का वर्णन है। यह काव्य सन् १५० ई० में रचा गया था।

पृ० ८—२० डा० जुननकर ने जैनधर्म के भविष्य पर गंभीर विचार प्रकट किये हैं, जो प्रत्येक जैनी को पढ़ना चाहिए। इस लेख का हिंदी अनुवाद प्रकट किया जाना चाहिए।

पृ० २१—२५ प्रो० हरिमोहन भट्टाचार्य ने सांख्य और मीमांसा दर्शनों में वर्णित आत्मा के ज्ञानगुण पर जैनदृष्टि से आलोचनात्मक विवेचन किया है।

पृ० २७ प्रो० दशरथ शर्म्मा ने बीकानेर के चिन्तामणि जैनमंदिर के सं० ११७६ के शिलालेख का संपादन किया है।

पृ० २९—३२। जैन-काल-गणना में जरासिंधु से लेकर महामंडलिक राजा आनन्दकुमार तक की घटनाओं का वर्णन है।

—कामताप्रसाद जैन

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

साहित्य-समालोचना

(१)

समाधितंत्र

मूलकर्ता—पूज्यपादाचार्य; संस्कृत-टीकाकार प्रभाचन्द्राचार्य; हिन्दी अनुवाद—पं० परमानन्द जैन शास्त्रिकृत; सम्पादक—पं० जुगलकिशोर मुख्तार; प्रकाशक—वीरसेवा मन्दिर, सरसावा (सहारनपुर, यू० पी०), सन् १९३९; मूल्य—आत्मविचार; रायल आकार; २४+१०८ पृष्ठ।

यह वीरसेवामन्दिर-ग्रन्थमाला का प्रथम ग्रन्थ है। इसके प्रकाशन के लिये बाबा भागीरथ जी की प्रेरणा से ३५५) रुपया का दान प्राप्त हुआ था। ग्रन्थ बाबा जी को समर्पित किया गया है। छपाई-सफाई अधिक संतोषजनक नहीं हो सकी जिसका कारण प्रेस की गड़बड़ी थी।

ग्रन्थ के कर्त्ता पूज्यपाद का नाम जैन साहित्य में सुप्रसिद्ध है। इनका सबसे अधिक सुप्रचलित ग्रन्थ तत्वार्थसूत्र की टीका—सर्वार्थसिद्धि है। उनकी अन्य ज्ञात रचनायें हैं जैनेन्द्र-व्याकरण, इष्टोपदेश, सिद्धभक्ति। अन्य पांच छह 'भक्तियां' भी पूज्यपाद के नाम से प्रसिद्ध हैं। उनके 'वैद्यकशास्त्र', 'शब्दावतार', 'जैनाभिषेक' व 'छन्दःशास्त्र' के भी उल्लेख मिलते हैं, नहीं कहा जा सकता कि वे अब सुरक्षित हैं या नहीं ? श्रीधवल सिद्धान्त में उनके एक 'सारसंग्रह' ग्रन्थ का उल्लेख भी आया है जो न्यायविषयक प्रतीत होता है। इन सब विषयों का तथा प्रस्तुत ग्रन्थ के विषयादि का विद्वत्तापूर्ण विवेचन सम्पादक-द्वारा लिखी गई भूमिका में पाया जाता है। भूमिका में कर्ता के काल-निर्णय की अलग से ऊहापोह नहीं की गई। हाँ, यह यत्र-तत्र कहा गया है कि वे 'विक्रम की छठी शताब्दी में हो गये हैं। उनके एक शिष्य वज्रनन्दी ने विक्रम सं० ५२६ में द्राविड़संघ की स्थापना की थी, तथा वे गंगराजा दुर्विनीत के शिक्षागुरु थे, जिसका राज्यकाल ई० सन् ४८२ से ५२२ तक पाया जाता है।

समाधितंत्र १०५ पद्यों का अध्यात्म-विषय-संबंधी सुन्दर काव्य है। इसमें थोड़े ही शब्दों द्वारा सूत्ररूप से अपने विषय का अच्छा प्रतिपादन किया गया है। प्रतिपादनशैली सरल, सुन्दर एवं हृदयग्राहिणी है। अनुवाद, अन्वयार्थ और भावार्थ-रूप से अच्छा विशद हुआ है।

वीरसेवा-मन्दिर से आगे सात अन्य ग्रन्थों के प्रकाशित किये जाने की प्रतिज्ञा की गई है। इनमें जैन लक्षणावली, धवलादि-श्रुतपरिचय और ऐतिहासिक जैन व्यक्ति-कोश के लिये हम विशेषरूप से उत्सुक रहेंगे। अधिष्ठाता जी से अनुरोध है कि वे, इन्हें शीघ्र प्रकाश में ला कर जैन साहित्य-सेवियों का उपकार करें।

—हीरालाल जैन एम० ए०

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

(२)

सर्वार्थसिद्धि

रचयिता—श्रीपूज्यपाद; सम्पादक—पं० जिनदास शास्त्री न्यायतीर्थ; प्रस्तावना-लेखक—मोतीचन्द्र एम०ए०; पृष्ठ-संख्या ३६+३२२; मूल्य २) रु०; प्रकाशक—श्रीयुत रावजी सखाराम दोशी, शोलापुर।

शोलापुर से जैन परीक्षालय के मंत्री स्वर्गीय सेठ रावजी सखाराम दोशी ने सर्वार्थसिद्धि का एक नूतन संस्करण अभी हाल ही में प्रकाशित किया है। इसका संशोधन पं० जिनदास जी शास्त्री ने किया है और मुद्रण पं० वर्धमान जी शास्त्री ने अपने कल्याण मुद्रणालय में किया है। संस्करण का आकार वगैरह बिल्कुल पूर्व संस्करण जैसा ही है, मूल्य भी उतना ही है। किन्तु पृष्ठ-संख्या उससे बढ़ गई है। इसका कारण यह है कि संशोधक जी ने किसी-किसी स्थल पर श्रुतसागरी टीका के कुछ अंश जो उन्हें अच्छे लगे, फुटनोटों में उद्धृत कर दिये हैं। तथा प्रारम्भ में पं० गौतमचन्द मोतीचन्द्र कोठारी एम० ए० की तथोक्त महत्त्वपूर्ण प्रस्तावना ने, पं० मक्खनलाल जो शास्त्री के 'श्रीवर्द्धमानाय नमः' ने (उनके वक्तव्य के शीर्षक स्थान में यही वाक्य मुद्रित है) और संशोधक जी के श्रुतसागर-विषयक परिचय ने एक कम पूरे चालीस पृष्ठ रोक लिये हैं। किन्तु इस पृष्ठ-वृद्धि से इस संस्करण की कलेवर वृद्धि नहीं हो सकी है, क्योंकि प्रकाशक जो ने इसमें जो कागज लगाया है, वह संभवतः इसी अनुपात से पसन्द किया गया था, कि पृष्ठ-संख्या बढ़ने पर भी सर्वार्थसिद्धि के पूर्व संस्करण से इस संस्करण की मोटाई न बढ़ने पाये। इस पसन्दगी ने संस्करण की मोटाई को तो नहीं बढ़ने दिया, किन्तु और इस तरह से उसका बाह्य सौन्दर्य पूर्ववत् ही आकर्षक बना रहा, किन्तु इससे उसके अन्तः सौन्दर्य में कम से कम मेरी दृष्टि से तो अन्तर पड़ ही गया। कागज के पारदर्शक होने की वजह से एक ओर से दोनों ओर के अक्षर झलकते नजर आते हैं। स्याही भी कुछ-कुछ फैली हुई सी मालूम होती है। गेट-अप भी सुन्दर नहीं हुआ है। फलतः अक्षरों पर स्याही की 'कहीं धूप कहीं छाया' सी मालूम होती है। बहुत से अक्षर ठीक ठीक नहीं उबटे हैं। संयुक्त तो प्रायः रह ही गये हैं। किन्तु एक बात अच्छी कर दी गई है, उपयोगी लक्षणवाक्यों को मोटे अक्षरों में छापा गया है, जिससे परीक्षार्थियों को सहायता मिल सकेगी। किन्तु उसके बदले में एक नई कठिनाई भी पैदा कर दी है और वह यह है कि नयी अशुद्धियों की सृष्टि कर दी गई है जो संभवतः ठीक-ठीक प्रूफ-पाठ न होने का परिणाम जान पड़ती है। यथा—पृ० ९९ में 'द्विविधास्तसाः', पृ० ८, सूत्र २७ में—'रूपिष्वित्यनेन पुद्गलद्रव्यसम्बन्धाश्च जीवाः।", पृ० १४४ में 'अद्धापल्यम्' के स्थान में 'उद्धारपल्यम्' और 'तेषाम्' के स्थान में 'येषाम्', पृ० १४७ में 'सामानायु, पृ० १५३ में 'भग्गव अंगि'। पुराना अशुद्धियां तो अभी मौजूद ही हैं। टिप्पणी भी कहीं-कहीं अशुद्ध छपी है। टिप्पणियां यदि ग्रन्थ के गूढ़ शब्दों को स्पष्ट करनेवाली भी होतीं तो वे छात्रों के लिये विशेष लाभप्रद हो सकती थीं। सब बातों पर दृष्टि डालते हुए हमें तो यही कहना पड़ता है कि इस संस्करण को पूर्व संस्करण से किसी भी तरह अच्छा नहीं कहा जा सकता। पाठ्यक्रम में निर्धारित ग्रन्थ शुद्धतापूर्वक संपादित होकर प्रकाशित होने चाहिये। जल्दबाजी करने से ग्रन्थ की हत्या सी हो जाती है। इसकी प्रस्तावना के बारे में यहां कुछ लिखना बेकार होगा। 'भास्कर' की मार्च की किरण में उसके बारे में एक स्वतन्त्र लेख आनेवाला है। —कैलाशचन्द्र शास्त्री

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

ग्रन्थराज श्रीधवलसिद्धान्त का प्रकाशन

जिनके स्वाध्याय के लिये विद्वन्मण्डली सुदीर्घकाल से लालायित थी और जिन ग्रन्थराज के दर्शनमात्र के लिये सैकड़ों रुपये व्यय करने पड़ते थे, उन परम पुनीत ग्रन्थराज का सत्प्ररूपणा-नामक प्रथम खण्ड जैनसमाज के तीव्र पुण्योदय से भेलसा-निवासी श्रामन्त सेठ लक्ष्मीचन्द शिताबराय जी के औदार्यपूर्ण दान-द्रव्य से समाज के प्रख्यात सुयोग्य विद्वान्, 'भास्कर' के अन्यतम सम्पादक मित्रवर प्रोफेसर हीरालाल जी अमरावती के अविरत परिश्रम से सर्वोच्च नवीन शैली में अब प्रकाशित हो गया। प्रस्तुत ग्रन्थराज अन्तिम तीर्थङ्कर श्रीभगवान् महावीर स्वामी की द्वादशाङ्गवाणी का अवशिष्ट रूप हैं और आचार्य-परम्परा से प्रातःस्मरणीय परम पूज्य पुष्पदन्त और भूतबलि-द्वारा षट्खण्डागम-रूप से लिपिबद्ध हुए थे। इन्हीं ग्रन्थराज के लिपिबद्ध-काल से जैनियों में श्रुतपञ्चमी-पर्व का प्रचलन हुआ जो कि आजतक अविच्छिन्न रूप से चला आ रहा है। ग्रन्थराज की सम्पादन-सम्बन्धी विशेषताओं के दर्शनमात्र से हृदय प्रसन्नता से भर जाता है। इन सब बातों पर विशेष प्रकाश 'भास्कर' की किसी अन्य किरण में डाला जायगा। इस समय जैन समाज से मेरी यही प्रार्थना है कि शीघ्रातिशीघ्र प्रथम खण्ड का मूल्य १०) भेज इन्हें 'जैनसाहित्योद्धारक फंड', किंग एडवर्ड कालेज अमरावती (बरार) से अवश्य मंगा एवं स्वाध्याय कर अतुल पुण्य-पुञ्ज का संचय करें।

मैं आशा करता हूं कि जैनसमाज इस सुवर्णावसर को नहीं खोयेगा। मैं प्रत्येक संस्था के संचालक तथा मन्दिरों के प्रबन्धकों से निवेदन करूँगा कि ग्रन्थराज की एक-एक प्रति आप महानुभाव मंगाकर अपनी संस्था एवं मन्दिरों को अवश्य सुशोभित करें। मन्दिर-निर्माण, बिम्ब-प्रतिष्ठा, रथनिष्कासन आदि धर्मकार्यों से यह साहित्योद्धारक धर्मकार्य किसी अंश में कम नहीं है। बल्कि मेरी स्थूलबुद्धि में यह उन सबों से बढ़कर है। क्योंकि जैन-साहित्य की रक्षा से ही जैनधर्म जीवित रह सकता है—अन्यथा नहीं। इसी से कहा जाता है कि जिस धर्म का साहित्य जीवित है वही धर्म जीवित है। आचार्यों ने भी जिनेन्द्र और जिनवाणी में कोई अन्तर नहीं माना है। आजकल जो कोई भी धर्म उन्नति-पथारूढ़ है, वह केवल अपने साहित्य-प्रचार के बल से ही। जैनसमाज को कम से कम अब उन उन्नतिशील धर्मों से अवश्य शिक्षा लेनी चाहिये। ये दो पंक्तियाँ अपने कर्त्तव्य-पालन के लिये ही लिखी गई हैं। अन्त में इनके सम्पादक विज्ञ प्रोफेसर साहब को इसअभूतपूर्व साहित्यिक सफलता के लिये मैं हृदय से धन्यवाद देता हूं।

—के० भुजबली शास्त्री

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

तिलोयपण्णत्ती

प्रोफेसर ए. एन. उपाध्ये.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

पादूणं जोयणयं अट्ठावीसुत्तरं सयं दंडा ।
किंकूहत्था णात्थिह वेदीए कोविहं दीहं (?) ॥५१॥

३ । दं १२८ । ० । ० । १ ।
४

पादट्ठाणे सुण्णं अंगुलमेक्कं तहा जवा पंच ।
एक्को जूवो एक्को लिक्खं कम्मखिदीण छव्वालं ॥५२॥

अं १ । ज ५ । जू १ । लि १ । कहा

सुण्णं जहण्णभोगं खिदिए मज्झिल्लभोगभूमीए ।
सत्त च्चेय वालग्गा पंचुत्तमभोगच्छोणीए ॥५३॥

० । ७ । ५ ।

एक्को तह रहरेणू तसरेणू तिण्णि णत्थि तुडरेणू ।
दोत्तियसरेणुसरेणाउ सण्णासण्णिय वि तिण्णि पुढं ॥५४॥

१ । ३ । ० । २ । ३ ।

परमाणू य अणंता संखा हुवेदि णियमेणं ।
वोच्छामि तप्पमाणं णिस्संसिददिट्ठिवादादो ॥५५॥

तेवीस सहस्साणिं बेण्णि सयाणिं च तेरसं अंसा ।
हारो एक्कं लक्खं पंच सहस्साणि चउ सयाणि णवं ॥५६॥

२३२१३ ।
१०५४०९ ।

खखपदस्संसस्स पुढं गणगारा होदि तस्स परिमाणं ।
जाण अणंताणंता परिभासकमेण उप्पण्णा ॥५७॥

७९९०५६९४१५० ।

अंबरपंचेक्कचउणवछप्पणसुण्णणवयसत्तो व ।
अंककमे जोयणया जंबूदीवस्स खेत्तफलं ॥५८॥

७९०५६९४१५० ।

एक्को कोसो दंडा सहस्समेक्कं हुवेदि पंचसया ।
तेवण्णाए सहिदा किंकूहत्थेससुण्णाइं ॥५९॥

को १ । दंड १५५३ । ० ० ।

एक्को होदि विहत्थी सुण्णं सोदंमि अंगुलं एक्कं ।
जव छ तियजूवा लिक्खाउ तिण्णि णादव्वा ॥६०॥

१ । ० । १ । ६ । ३ । ३ ।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

कम्मक्खोणीए दुवे वालग्गा अवरभोगभूमीए ।
सत्त हुवंते मज्झिमभोगखिदीए वि तिण्णि पुढं ॥६१॥

२ । ७ । ३ ।

सत्त य सण्णासण्णाओ सण्णासण्णया तहा एक्को ।
परमाणूण अणंतोणंता संखा इमा होदि ॥६२॥

७ । १ ।

अडतालसहस्साइं पणवण्णुत्तरचउस्सया अंसा ।
हारो एक्कं लक्खं पंच सहस्साणि चउ सया णवयं ॥६३॥

४८४५५

१०५४०९

खखपदसंसस्स पुढं गुणगारा होदि तस्स परिमाणं ।
एत्थ अणंताणंता परिभासकमेण उप्पण्णा ॥६४॥
सोलसजोयणहीणे जंबूदीवस्स परिधिमज्झम्मि ।
दारंतरपरिमाणं चउभजिदे होदि जं लद्धं ॥६५॥
जगदीबाहिरभागो दाराणं होदि अंतरपमाणं ।
उणसीदिसहस्साणं बावण्णा जोयणाणि अधिरेगो ॥६६॥
सत्त सहस्साणि धणू पंचसयाणि होंति बत्तीसं ।
तिण्णि च्चिय पव्वाणि तिण्णि जवा किंचिदधिरित्तो ॥६७॥

७९०५ २

ध ७५३२ । अं ३ । ज ३ ।

जगदीअब्भंतरए परिही लक्खाणि तिण्णि जोयणया ।
सोलससहस्सइगिसयबावण्णा होंति किंचूणा ॥६८॥

३१६१५२ ।

जगदीअब्भंतरए दाराणं होदि अंतरपमाणं ।
उणसीदिसहस्साणं चउतीसं जोयणाणि किंचूणं ॥६९॥

७९०३४ ।

विक्खंभद्धकदीउ विगुणा वड्ढे दि संतरे दीवे ।
वग्गो पणगुणचउभजिदो होदि धणुकरणी ॥७०॥
सत्तरिसहस्सजोयण सत्त सया दससजुदो य अदिरित्तो ।
जगदीअब्भंतरए दाराणं रिजुसमाणविच्चालं ॥७१॥

७०७१० ।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

उणसीदिसहस्साणिं छप्पण्णा जोयणाणि दंडाइं ।
सत्त सहस्सा पणसयबत्तीसा होंति किंचूणा ॥७२॥
७९०५६। दं ७५३२।
विजयादिदुवाराणं पंचसयाजोयणाणि उत्थारो ।
पत्तेक्कं उच्छेहो सत्त सयाणिं च पण्णासा ॥७३॥
जो ५००। ७५०।
दारोवरिमपुराणं रुंदा दो जोयणाणि पत्तेक्कं ।
उच्छेहो चत्तारिं केई एवं परूवंति ॥७४॥
२। ४।
पाठान्तरम् ।
एदेसिं दाराणं अहिवइदेवा हवंति चित्तरया ।
जंणामा ते दारा तंणामा ते वि रक्खादो[1] ॥७५॥
एक्कपलिदोवमाऊ दसदंडसमाणतुंगधरदेहा ।
दिव्वामलमउडधरा सहिदा देवीसहस्सेहिं ॥७६॥
दारस्स उवरिदेसे विजयस्स पुरं हवेदि रयणम्मि ।
बारससहस्सजोयणदीहत्तस्सद्धविक्खंभं ॥७७॥
१२०००। ६०००।
चउगोउरसंजुत्ता तद्वेदी तम्मि होदि कणयमई ।
चरियट्टालयचारूदारोवरि[2] जिणपुरेहिं रमयारो ॥७८॥
विजयपुरम्मि विचित्ता पासादा विविहरयणकणयमया ।
समचउरस्सा दीहा अणेयसंठाणसोहिल्ला ॥७९॥
कुंदिंदुसंखधवला मरगयवण्णो सुवण्णसंकासा ।
वरपउमरायसरिसा विचित्तवण्णंतरा पउरा ॥८०॥
पुउलंगमंतभूसणअभिसेउप्पच्छिमेहुणादीणं[3] ।
सालाउ विसालाउ रयणमईउ विराजंति ॥८१॥
ते पासादा सव्वे विचित्तवणसंडमंडणा रम्मा ।
दिप्पंतरयणदीवा वरधूवघडेहिं संजुत्ता ॥८२॥
सत्तट्ठणवदसादियविचित्तभूमीहिं भूसिदा चिउला[4] ।
दुच्छंतरपरदाया(?) अकट्टिमा सुट्ठु सोहंति ॥८३॥

1 B रक्खादे; 2 S A चरियट्टालय; 3 उप्पेच्छ or उप्पत्ति (?); 4 विउला (?)।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

पासरसवण्णवररंगिगंधेहिं(?) बहुविधेहिं कदसरिसा ।
उज्जलविचित्तबहुविधसयणासणाणिवहसंपुण्णा ॥८४॥
एदेसिं णयरवरे बहुविहपरिवारपरिभदा णिच्चं ।
देवीजुत्ता भुंजदि उवचारसुहाइं विजयपुरी ॥८५॥
एवं अवसेसाणं देवाणं पुरवराणि रम्माणि ।
दारोवरिमपवेसे णहम्मि जिणभवणजुत्ताणि ॥८६॥
जगदीए अब्भंतरभागो बे कोसवाससंजुत्ता ।
भूमितले वणसंडो वरतणुणियरा विराजंति ॥८७॥
तं उज्जाणं सीयलछायं वरसुरहिकुसुमपरिपुण्णं ।
दिव्वामोदसुगंधं सुरखेयरमिहुणमणहरणं ॥८८॥
बे कोसा उव्विद्धा उज्जाणवणस्स वेदिया दिव्वा ।
पंचसयचावरुंदा कंचणवररयणणियरमई ८९॥

। जगदी समत्ता ।

तस्सिं जंबूदीवे सत्तविहा होंति जणपदा पवरा ।
पदाणिं विच्चाले छक्कुलसेला विरायंते ॥९०॥
दक्खणदिसाए भरहो हेमवदो हरिविदेहरम्माणि ।
हेरण्णवदेरावदवरिसा कुलपव्वदंतरिदा ॥९१॥
कप्पतरुधवलछत्ता वरउववणचामरेहिं चारुधरा ।
वरकुंडकुंडलेहिं विचित्तरूवेहिं रमणिज्जा ॥९२॥
वरवेदीकडिसुत्ता बहुरयणुज्जलणगिंदमउडधरा ।
सरिजलपवाहहारा खेत्तणरिंदा विराजंति ॥९३॥
हिमवंतमहाहिमवंतणिसिधणीलद्धिरुम्मिसिहरिगिरी ।
मूलोवरिसमवासा पुव्वावरजलदेहिं[1] संलग्गा ॥९४॥
एदे हेमज्जुणतवणिज्जयवेरुलियरजदहेममया ।
एक्कदुचदुचदुदुगइगिजोयणसयउदयसंजुदा कमसो ॥९४॥
१०० । २०० । ४०० । ४०० । २०० । १०० ।
वरदा हसिदा रत्ता सवि चामरविज्जमाणया परिदो ।
कप्पतरुचारुविंदा वसुहमही सिंहासणारूढा ॥९६॥
वरवेदीकडिसुत्ता विविहुज्जलरयणकूडमउडधरा ।
अंबरणिब्भरहारा चंचलतरुकुंडलाभरणा ॥९७॥

1 जलधीहिं (?)

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

गोउरतिरीटरम्मा पायारसुगंधकुसुमदामग्गा ।
सुरपुरकंठाभरणा वरराजिविचित्तवत्थकयसोहा ॥९८॥
तारिणकंकणजुत्ता वज्जपणालीपुरंतकेयूरा ।
जिणवरमंदिरतिलया भूधररामा विराजंति ॥९९॥
णउदीजुदसदभजिदे जंबूदीवस्स वासपरिमाणे ।
जं लद्धं तं रुंदं भरहं खेत्तम्मि णादव्वं ॥१००॥
पुव्वावरदो दीहा सत्त वि खेत्ता अणादिविणासा ।
कुलगिरिकयमज्जादो वित्थिण्णा दक्खिणुत्तरदो ॥१०१॥
भरहम्मि होदि एक्को तत्तो दुगुणा य चुल्लहिमवंतो ।
एवं दुगुणदुगुणा होदि सलायं[1] विदेहंतं ॥१०२॥

१ । २ । ४ । ९ । १६ । ३२ । ६४ ।

अद्धं खु विदेहादो णीलो णीलादु रम्मको होदि ।
एवं अद्धद्धाओ एरावदखेत्तपरियंतं ॥१०३॥

३२ । १६ । ८ । ४ । २ । १

वरिसादीण सलायामिलिदे[2] णउदीयमधियमेक्कसयं ।
एसा जुत्ती हारस्स भासिदो आणुपुव्वीए ॥१०४॥
भागभजिदम्मि लद्धं पणसयछव्वोसजोयणाणिं[3] कं ।
छव्विहकला य कहिदो भरहक्खेत्तम्मि विक्खंभा ॥१०५॥

५२६ । ६ ।
१९

वरिसादु दुगुणवड्ढी आदीदो दुगुणिदो परोवरि सो ।
जाव विदेहं होदि हु तत्तो अद्धद्धहाणीए ॥१०६॥

१०५२ । १२ । २१०५ । ५ । ४२१० । १० ।
१९ १९ १९

८४२१ । १ । १६८४२ । २ । ३३६८४ । ४ ।
१९ १९ १९

१६८४२ । २ । ८४२१ । १ । ४२१० । १० ।
१९ १९ १९

1 A सिलायं ; 2 ASB ललाया ; 3 D जोयणायं ।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

२१०५। ५। १०५२। १२। ५२६ । ६।
१९ १९ १९

। एवं विण्णासो सम्मत्तो।

भरहखिदीबहुमज्झे विजयद्धो णाम भूधरो तुंगो।
रजदमओ वट्ट दि हु[1] णाणावररयणरमणिज्जो ॥१०७॥
पणुवीसजोयणुदओ जुत्ता तद्गुणमूलविक्खंभा
उदयतुरिमस्स गाढा जलणिहिपट्टा तिसेढिगओ ॥१०८॥

२५। ५०। २५
४

दसजोयणाणि उवरिं गंतूणं तस्स दोसु पासेसं।
विज्जाहराण सेढी एक्केक्का जोयणाणि दस रुंदा ॥१०९॥

१०।

विजयड्ढायामेणं हुवंति विज्जाहराण सेढीओ।
एक्केक्का तह वेदी णाणाविहतोरणेहिं कियसोहा ॥११०॥
दक्खिणदिससेढीए पण्णास पुराणि पुव्ववहुदिम्मि[2]।
उत्तरसेढीए तह णयराणिं सट्ठि वट्टंति[3] ॥१११॥

द ५०। उ ६०।

तण्णामा—

किंणामिदकिंणरगीदाइ तह य णरगीदं।
बहुकेदुपुंडरीया सीहद्धयसेदकेदूइं ॥११२॥
गरुडद्धयं सिरिप्पहसिरिधरलोयग्गला अरिंजयकं।
वइरग्गलवइरंदा विमोचिया जयपुरी य सगडमुही ॥११३॥
चंदुमुहवहुतुहअरजंखायाणि विरजक्खणामविक्खादं।
तत्तो रहणेउरमेहलग्गखेमंपुरावराजिदया ॥११४॥
णामेण कामपुप्फं गयणचरी विजयचरियसुक्कपुरी।
तह संजयंतणयरी जयंतविजाइवइजयंतं च ॥११५॥
खेमंकरचंदाभा सूराभपुरुत्तमापुवाइं[4] पि (?)।
चित्तमहाकूडाइं सुवण्णकूडातिकूडा य ॥११६॥

1 ASB चेट्ठे दि। Hereafter a Ms. from Delhi (= D) is being used in addition.
2 D वहुदंमि; 3 ABS चेट्ठंति; 4 D मापुव्वइं।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

बहुचित्तहेमकूडा[1] तत्तो वइसवणकूडसूरपुरा ।
चंदं णिक्चुज्जोयं विमुही तह णिच्चवाहिणी सुमुही ॥११७॥

९ ।

अंजुलअरुणीकइलासवारुणीओ[2] य विज्जुपहणामा ।
किलकिलचूडामणियं[3] ससिपहवंसालपुप्फचूलाइं ॥११८॥

१० ।

णामेण हंसगब्भं बलाहकसिवंकरा सिरिसउदं[4] ।
चमरं सिवमंदिरवसुवक्खावसुमाइमा णामा ॥११९॥
सव्वत्थपुरं सत्तुंजयं च णामेण केदुमालं ति ।
सुरवइकंतं तह गगणं णंदणं पुरमसोगं च ॥१२०॥
तत्तो विसोकयं वीदसोकअलकाइतिलकणामं च ।
अंबरतिलकं मंदरकुमुदा कुंदं च गयणवल्लभयं ॥१२१॥
दिव्वतिलयं च भूमीतिलयं गंधव्वपुरवरं तत्तो ।
मुत्ताहरणइमिसणामं तह[5] अग्गिजालमहजाला ॥१२२॥
णामेण सिरिणिकेदं जयावहं सिरिणिवासमणिवज्जं ।
भद्दं सव्वधणं जयमाहिंदो विजयणयरं च ॥१२३॥
तह य सुगंधिणिवेरंतदराणं खीरफेणसंखोभा (?) ।
गिरिसिहरधरणिवारणिदुग्गाइं दुद्धरं सुदंसणयं ॥१२४॥
रयणाययरयणपुरा उत्तरसेढीय सट्ठि णयरीओ ।
विजयद्धायामेणं विरचिदपंतीय णिवसंति ॥१२५॥

६० ।

विज्जाहरणायरवरा अणाइणिहणा सहावणिप्पण्णा ।
णाणाविहरयणमया गोउरपासाय[6]तोरणादिजुदा ॥१२६॥
उज्जाणवणसंजुत्ता पोक्खरणीकूववदिग्घयासहिदा ।
धुव्वंतरयवदाया पासादा ते च[7] रयणमया ॥१२७॥
णाणाविहजिणगेहा विज्जाहरपुरवरेसु रमणिज्जा ।
वररयणकंचणमया ताण ट्ठाणेसु सोहंति ॥१२८॥

---

1 I BS बहुचित्त; 2 ABS कइलासे; 3 ABS कूडा —; 4 S संउदं; 5 D जयणामं; 6 D पाकाचार (चाचार ?); 7 च (?) ।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

वणसंडवच्छणाहा वेदीकडिसुत्तएहिं कंतिल्ला ।
तोरणकंकणजुत्ता विज्जाहररायभवणमौडधरा[1] ॥१२९॥
मणिगिहकंठाभरणा चलंतहिंदोलकुंडलेहिं जुदा ।
जिणवरमंदिरतिलया णयरणरिंदा विरायंति ॥१३०॥
[2]पुव्विदकमलवणेहिं वावीणिचएहिं[3] मंडिया विउला ।
पुरवाहिरभूभागा उज्जाणवणेहिं रेहंति ॥१३१॥
कल्हारकमलकुवलयकुमुदुज्जलजलपवाहपदहत्था ।
दिव्वतलाया विउला तेसु पुरेसु विरायंति ॥१३२॥
जमणालवल्लतुवरीतिलजवगोधूममासपहुदीहिं ।
सव्वेहिं सुधण्णेहिं पुराइं सोहंति भूमीहिं ॥१३३॥
बहुदिव्वगामसहिदा दिव्वमहापट्टणेहिं रमणिज्जा ।
कव्वडदोणमुहेहि संवाहमडंबएहिं परिपुण्णा ॥१३४॥
रयणाण सयाणरहिं[4] विभूसिदो पंचमरायपहूदीणं ।
दिव्वणयरेहिं पुण्णा धणधण्णसमिद्धिरम्मेहिं ॥१३५॥
जंबकुमारसरिच्छा बहुविहविज्जाहिं संजुदा पवरा ।
विज्जाहरा मणुस्सा छक्कम्मजुदा हुवंति सदा ॥१३६॥
अच्छरसरिच्छरूवा अहिणवलावण्णदिव्वरमणिज्जा ।
विज्जाहरवणिताओ बहुविहविज्जासमिद्धाओ ॥१३७॥
कुलजाईविज्जाओ साहियविज्जा अणेयभेयाओ ।
विज्जाहरपुरिसपुरं वियाण वरसोक्खजणणीओ ॥१३८॥
रम्मुज्जाणेहिं जुदा होंति हु विज्जाहराण सेढीओ ।
जिणभवणभूसिदाओ को सक्कइ वण्णिदुं सयलं ॥१३९॥
दसजोयणाणि तत्तो उवरिं गंतूण दोसु पासेसुं ।
अभियोगामरसेढी[5] दसजोयणवित्थरा होदि ॥१४०॥
वरकप्परुक्खरम्मा फलिदेहिं उववणेहिं परिपुण्णा ।
वावितलायप्पउरा वरअच्छरकीडणेहिं जुदा ॥१४१॥
कंचणवेदीसहिदा वरगोउरसुंदरा य बहुचित्ता ।
मणिमयमंदिरबहुला परिखा पायारपरियरिया ॥१४२॥

1 मउड (?); 2 पुप्फिद (?); 3 ABS णिवएहिं; 4 D रयणाणवायरेहिं; 5 ABS अभिभोगामर ।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

प्रशस्ति-संग्रह

पं० के० भुजबली शास्त्री.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

इय हरिवंसपुराणे मणहरेसरायपुरिसगुणालंकारकल्लाणे तिहुवणकित्तिसिस्सअप्प-सुदसुदकित्ति महाकव्वु विरयंतो णाम सइंतालिसतिमो संधिपरिच्छेओ समत्तो ॥

निवनियरुद्देसुरट्ठो जयसिरिधम्माणुराउ मणिहिट्ठो नंदउ जणाचउपवरो सुहसंपइदाण-कप्पयरो ॥१॥ चउविहमुणिगणासहिओ नंदउ सिरिनंदिसंघु सुरमहिओ नंदउ जयसिरिजुत्तो सावयगणु धम्मअणुरत्तो ॥२॥ हरिवंसगयणाचंदो जह दंसणसयलभुवणा आणंदो तयलोयसुजसुपवरो नेमिजिणो भवियदुरियहरो ॥३॥ रिसहु अजिउ संभउ जिणंदु अभिणंदणु सामिउ सुमतिपहमुपहु पुणु सुपासु ससिपहुसिवगामिउ सुविहु सुसीयलु पुणु सियंसु वसुपुज्जु गुणोहरु विमल णांतु पुणु धरमसंतिसंजुयइं कुंथु अरु मल्लिसुसुव्वउ नमिसुनेमिजिणु पासु पहाणइं वीरसहियभवियणाहु दंति सिरिसंति समाणइं। सिद्धि संवत् १५५३ वर्षेकरवदि २ द्वजगुरौ दिने अद्येह श्रीमण्डपाचलगढदुर्गे सुलितान गयासदीन राज्ये प्रवर्तमाने श्रीदमोवादेसे महाखानभोजखानवर्तमाने जेरहटस्थाने सोनीश्रीईसुरप्रवर्तमाने श्रीमूलसंघे बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे श्रीकुन्दकुन्दाचार्यान्वये भट्टारकश्रीपद्मनन्दिदेव तस्य शिष्य मण्डलाचार्यदेवेंद्रकीर्त्तिदेव तच्छिष्य मण्डलाचार्य श्रीत्रिभुवनकीर्त्तिदेवान् तस्य शिष्य श्रुतकीर्त्ति इदं हरिवंशपुराणं परिपूर्णं कृतम्। भव्यजनपठनार्थं ज्ञानावरणकर्मक्षयार्थं श्रीपार्श्वनाथचैत्यालये श्रीचतुर्विंशतितीर्थंकरं परमभक्त्या प्रणम्य तथा श्रुतगुरुभक्तिपूर्वकं नमस्कृत्य ग्रन्थस्य अविघ्नसमाप्तिनिमित्तम्।

इस हरिवंशपुराण के रचयिता यशःकीर्त्ति ने अपने को श्रीमूलसंघ*, बलात्कारगण एवं सरस्वतीगच्छ के प्रातःस्मरणीय आचार्य कुन्दकुन्द की परम्परा में बतलाया है। आप के प्रगुरु मण्डलाचार्य देवेन्द्रकीर्त्ति और गुरु मण्डलाचार्य भुवनकीर्त्ति हैं। कुछ विद्वानों का ख़याल है कि धर्मशर्माभ्युदय के टीकाकार यशःकीर्त्ति और आप एक ही हैं। परन्तु यह धारणा भ्रान्त है। क्योंकि धर्मशर्माभ्युदय के टीकाकार यशःकीर्त्ति ललितकीर्त्ति के शिष्य हैं, आप भुवनकीर्त्ति के।

इस ग्रन्थ के अन्त में दो प्रशस्तियाँ दी गयी हैं। पहली अपभ्रंश भाषा में एवं दूसरी संस्कृत में। पहली प्रशस्ति में लिखा है कि यह ग्रन्थ वि० सं० १५५२ माघकृष्णा पञ्चमी सोमवार मालवदेशान्तर्गत मंगडवगढु में, शाहि गयासुद्दीन के शासन-काल में जेरहट नगर में समाप्त हुआ। दूसरी प्रशस्ति में लिखा है कि सिद्धि संवत् १५५३ आश्विन कृष्णा द्वितीय को मण्डपाचलगढ दुर्ग में, सुलतान गयासुद्दीन के राज्यकाल में, दमोवादेश में, महाखान-भोजखान की मौजूदगी में जेरहट नगर के पार्श्वनाथ जिनालय में यह ग्रन्थ परिपूर्ण

* अपभ्रंश-प्रशस्ति में नन्दिसंघ लिखा हुआ है।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

हुआ। समझ में नहीं आता है कि इन प्रशस्तियों में ग्रन्थ-समाप्ति के काल के सम्बन्ध में ऐसा मतभेद क्यों हुआ? यह लेखक की भी भूल नहीं मानी जा सकती। क्योंकि दोनों सम्वतों में मास, तिथि आदि भी भिन्न-भिन्न दी गयी है। क्या इनमें से सं० १५५२ को ग्रन्थ-प्रारंभकाल एवं सं १५५३ को ग्रन्थ-समाप्ति-काल माना जा सकता है? मगर प्रशस्तियों से स्पष्टतया इन बातों की सूचना नहीं मिलती है। ऐसी अवस्था में इसका निर्णय और और प्रतियों की छान-बीन से ही किया जा सकेगा। साथ ही साथ इस बात का भी पता लगाना है कि जेरहट का वर्तमान नाम क्या है और पहली प्रशस्ति में मालवदेश और दूसरी प्रशस्ति में दमोवा देश कैसे लिखा गया। सुना है कि वर्तमान सागर जिला में भी जेरठ नामक एक प्राचीन स्थान है। मण्डवगढ या मण्डपाचलगढ वर्तमान मेवाड राज्यान्तर्गत 'मांडल गढ़ का किला' ही मालूम होता है। शाहि या सुल्तान गयासुद्दीन भी खिलजी वंशज गयास्-उद्दीन ही ज्ञात होता है, जो कि १५ वीं शताब्दी में गुजरात में शासन करता था। क्योंकि अजमेर पर मुसलमानों का अधिकार होने पर यह किला भी उनके हस्तगत हो गया था।

दूसरी शुद्ध प्रति मिलने पर संभव है कि इन दो प्रशस्तियों की बातों पर मैं कुछ विशेष प्रकाश डाल सकूं। भवन की यह प्रति बहुत अशुद्ध है। 'दिगम्बर जैन ग्रन्थकर्त्ता और उनके ग्रन्थ' इस ग्रन्थ-तालिका में निम्नलिखित ग्रन्थ भी हरिवंशपुराण (प्राकृत) के कर्त्ता यशःकीर्त्ति के बतलाये गये हैं :—

(१) पाण्डवपुराण (प्राकृत) (२) गौतमचरित्र (३) प्रबोधसार (४) जगत्सुन्दरी (५) शृङ्गारार्णवचन्द्रिका (६) श्रावकाचार (७) धर्मशर्माभ्युदय की टीका (८) प्रद्युम्नकाव्य की टीका। परन्तु इनमें जगत्सुन्दरी, शृङ्गारार्णवचन्द्रिका एवं धर्मशर्माभ्युदय की टीका तो इनकी हैं ही नहीं। क्योंकि जगत्सुन्दरी के कर्ता यशःकीर्त्ति विमलकीर्त्ति के शिष्य हैं*। शृङ्गारार्णवचन्द्रिका के कर्त्ता विजयवर्णी हैं‡, न कि यशःकीर्त्ति। धर्मशर्माभ्युदय के टीकाकार ललितकीर्त्ति के शिष्य हैं—यह बात ऊपर लिख चुका हूँ। गौतमचरित्र एक प्रकाशित हो चुका है। पर इसके कर्त्ता धर्मचन्द्र हैं। शोलापुर से एक प्रबोधसार भी प्रकाशित हो गया है, इसके कर्त्ता महापण्डित यशःकीर्त्ति बताये गये हैं। प्रशस्ति नहीं होने से यह कहना कठिन है कि यह यशःकीर्त्ति यही हैं या दूसरे। इसी प्रकार शेष कृतियों को भी विना देखे इन्हीं का कहना ठीक नहीं है।

* देखें—'अनेकान्त' वर्ष २, किरण १२, पृष्ठ ६८६।

‡ देखें—'प्रशस्तिसंग्रह' पृष्ठ ७३।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

(४१) ग्रन्थ नं० २५७/ख

रामपुराण

कर्त्ता—सोमसेन

विषय—पुराण

भाषा—संस्कृत

लम्बाई १२ इञ्च चौड़ाई ७ इञ्च पत्रसंख्या २४६

प्रारम्भिक भाग—

वन्देऽहं सुव्रतं देवं पञ्चकल्याणनायकम् ।
देवदेवादिभिः सेव्यं भव्यवृन्दसुखप्रदम् ॥१॥
शेषान् सिद्धान् जिनान् सूरीन् पाठकान् साधुसंयुतान् ।
नत्वा वक्ष्ये हि पद्मस्य पुराणं गुणसागरम् ॥२॥
वन्दे वृषभसेनादीन् गणाधीशान् यतीश्वरान् ।
द्वादशाङ्गं श्रुतं यैश्च कृतं मुक्तस्य हेतवे ॥३॥
वन्दे समन्तभद्रान्तं श्रुतसागरपारगम् ।
भविष्यत्समये योऽत्र तीर्थनाथो भविष्यति ॥४॥
कुन्दकुन्दं मुनिं वन्दे चतुरं गुणचारणम् ।
कलि-काले कृतं येन वात्सल्यं सर्वजन्तुषु ॥५॥
आचार्यं जिनसेनाख्यं वन्दे ग्रन्थस्य सिद्धये ।
सिद्धान्तत्रयकर्त्तारं मोक्षमार्गोपदेशकम् ॥६॥
पूज्यपादप्रभाचन्द्राकलंकादीन् यतीश्वरान् ।
नमामि धर्मतीर्थस्य कर्त्तॄन् प्राणिहितङ्करान् ॥७॥
रविषेणं महाचार्यं वन्दे शास्त्राब्धिपारगम् ।
यत्प्रसादात्करोम्यत्र पुराणं रामसंज्ञकम् ॥८॥
गुणभद्रं यतिं वन्दे सर्वजीवदयापरम् ।
महापुराणकर्त्तारं ज्ञातारं सर्वसंचिरम् (?) ॥९॥
चारुकीर्त्तिमुनीन्द्रं च वन्दे श्रेष्ठार्थसिद्धिदम् ।
समाधिशीलसम्पन्नं हिताहितोपदेशकम् ॥१०॥

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

वन्देऽहं भानुमुन्याख्यं त्रिकालं योगमुक्तिदम् ।
सप्तशतमुनीन्द्रैश्च सेव्यपादश्च योऽभवत् ॥११॥
महेन्द्रकीर्त्तियोगीन्द्रौ नमामि कलिवारणौ ।
ययोः पादान् प्रसेवन्ते यत्यादिनरपुंगवाः ।
सरस्वतीं नमाम्यादौ जिनेन्द्रमुखसंभवाम् ।
द्वादशाङ्गस्फुरद्वक्त्रां मोक्षस्थानसुखप्रदाम् ॥१३॥

× × ×

मध्य भाग (परपृष्ठ १२५, पंक्ति ५)—

चतुर्मासेऽथवा ताते गते श्वभ्रादिविड्वरे ।
समं गंतुं समुद्युक्तं दृष्ट्वा यज्ञो वदत्यरम् ॥१॥
क्षन्तव्यं देव किञ्चिच्चाविनयाद् दुष्कृतं मया ।
भवादृशां नराणाञ्च (?) कः शक्नोतीह सेवितुम् ॥२॥
ततो जगाद रामोऽपि नम्रीभूतं सुराधिपम् ।
यदपराधमस्माकं क्षन्तव्यं च त्वया सुर ॥३॥
इति वचनमाकर्ण्य सन्तुष्टो यज्ञनायकः ।
नत्वा स्तुत्वा च तं रामं पूजतिस्म सुभक्तितः ॥४॥
स्वयं प्रभाभिधं हारं ददौ रामाय संमदः ।
कुण्डले लक्ष्मणाय द्वे शशिसूर्यसमप्रभे ॥५॥

× × ×

अन्तिम भाग :—

विक्रमस्य गते शाके षोडशशतवर्षके ।
षट्पञ्चाशत्समायुक्ते मासे श्रावणिके तथा ॥
शुक्लपक्षे त्रयोदश्यां बुधवारे शुभे दिने ।
निष्पन्नं चरितं रम्यं रामचन्द्रस्य पावनम् ॥
महेन्द्रकीर्तियोगीन्द्रप्रसादाच्च कृतं मया ।
सोमसेनेन रामस्य चरितं पुण्यहेतवे ॥
यदुक्तं रविषेणेन पुराणं विस्तराद्वरम् ।
तदेवात्र च संकुच्य यत्किञ्चित्कथितं मया ॥
गर्वेण न कृतं शास्त्रं नापि कीर्त्तिफलाप्तये ।
केवलं पुण्यहेत्वर्थं स्तुता रामगुणा मया ॥

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

नाहं जानामि शास्त्राणि न छन्दो न च काव्यकम् ।
तथापि च विनोदेन कृतं रामपुराणकम् ॥
ये सन्ति सुधियो लोके शोधयन्तु च ते मम ।
शास्त्रं परोपकाराय यत्कृतं ब्रह्मणा भुवि ॥
कथामात्रस्य पद्मस्य वर्तते वर्णनां विना ।
अस्मिन् ग्रन्थे तु भो भव्याः शृणवन्तु सावधानतः ॥
रविषेणाकृते ग्रन्थे कथा यावत्प्रवर्तते ।
तावच्च सकलात्रापि वर्तते वर्णनां विना ॥
विस्तारुचयः शिष्याः ये सन्ति शुद्धमानसाः ।
ते शृणवन्तु पुराणं हि रविषेणस्य निर्मितम् ॥
रविषे विषये रम्ये जित्वरे नगरे वरे ।
मन्दिरे पार्श्वनाथस्य सिद्धो ग्रन्थः शुभे दिने ॥
सेनगणेऽति विख्याते गुणभद्रोऽभवन्मुनिः ।
पट्टे तस्यैव संजातः सोमसेनो यतीश्वरः ॥
तेनेदं निर्मितं शास्त्रं रामदेवस्य भक्तितः ।
तस्य निर्वाणहेत्वर्थं संक्षेपेण महात्मना ॥
यस्मिन्निदं पुरे शास्त्रं शृणवन्ति च पठन्ति च ।
तत्र सर्वं सुखं क्षेमं परं भवति मङ्गलम् ॥
धर्मालभन्ते शिवसौख्यसम्पदः स्वर्गादिराज्यानि भवंति धर्मात् ।
तस्मात्कुरुध्वं जिनधर्ममेकं विहाय पापं नरकादिकारकम् ।
सेनगणे यतिपरमपवित्रे वृषभसेनगणधरस्तु वंशे ।
पण्डितवर्गसुखकरस्तु जातः सोमसुसेनयतिवरमुख्यः ॥
श्रीमूलसंघे वरपुष्कराख्ये गच्छे सुजातो गुणभद्रसूरिः ।
पट्टे च तस्यैव सुसोमसेनो भट्टारकोऽभूद्विदुषां शिरोमणिः ॥

इति श्रीरामपुराणे भट्टारकश्रीसोमसेनविरचिते रामस्वामिनो निर्वाणवर्णनो नाम त्रयस्त्रिंशत्तमोऽधिकारः ।

प्रशस्ति से सिद्ध होता है कि इस रामपुराण के रचयिता भट्टारक सोमसेन ने इस ग्रन्थ को विक्रम संवत् १६५६ श्रावण शुक्ल त्रयोदशी बुधवार को समाप्त किया था। संभवतः आप के गुरु महेन्द्रकीर्त्ति और योगीन्द्र थे। यह बात प्रारंभिक भाग के १२ वें एवं

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

अन्तिम भाग के तीसरे श्लोक से व्यक्त होती है। किन्तु प्रस्तुत महेन्द्रकीर्त्ति सम्वत् १९९२ तथा संवत् १८५२ वाले महेन्द्रकीर्त्ति-द्वय से भिन्न हैं। मालूम नहीं होता कि यह महेन्द्रकीर्त्ति कौन हैं। साथ ही साथ उल्लिखित योगीन्द्र का भी पता नहीं लगता। क्योंकि अभी तक इनकी कोई साहित्यिक कृति मेरे दृष्टिगोचर नहीं हुई है। प्रारंभ एवं अन्त में सोमसेन ने लिखा है कि मैंने यह रामपुराण रविषेणाचार्य-कृत पद्मपुराण के आधार पर बनाया है। साथ ही साथ यह भी बताया है कि मैंने पद्मपुराण के वर्णन भाग को छोड़कर के केवल उसके कथा-भाग का ही आश्रय लिया हैं।

इस ग्रन्थ की समाप्ति ग्रणेता ने रविषे (?) देशान्तर्गत जित्वर नगर के पार्श्वनाथ-मान्दिर में की है। पर पता नहीं लगता है कि रविषे देश एवं जित्वर नगर वर्तमानकालीन किस प्रान्त या स्थान का नाम है। बल्कि 'रविषे' यह नाम अशुद्ध ज्ञात होता है। दूसरी प्रति में इसका प्रकृत पता लगाना परमावश्यक है। 'दिगम्बर जैन ग्रन्थ-कर्ता और उनके ग्रन्थ' इस ग्रन्थ-सूची से रामपुराण के रचयिता सोमसेन के निम्नलिखित ग्रन्थों का भी पता लगता है :—

(१) स्थाण्डिल्य होमपूजा (२) शुक्रपञ्चम्युद्यापन (३) प्रद्युम्नचरित्र (४) सप्तर्षि-पूजा (५) भक्तामरोद्यापन (६) यशोधरचरित्र (७) त्रिवर्णाचार (८) दशलक्षणपूजाविधान (८) कर्म-दहन-व्याख्यान (१०) लघुशान्तिक। वे सभी ग्रन्थ इन्हीं की कृतियाँ हैं या कतिपय इस बात का निर्णय सभी ग्रन्थों के अवलोकन से ही किया जा सकता है। बल्कि प्रद्युम्नचरित के कर्त्ता सोमसेन (वि० सं० १६२५ लगभग) काष्ठासंघी थे। परन्तु इस रामपुराण के रचयिता सोमसेन अपने को मूलसंघ, पुष्करगच्छ एवं सेनगण के सुविख्यात आचार्य गुणभद्र के पट्टधर बतलाते हैं। साहित्यिक दृष्टि से यह ग्रन्थ साधारण श्रेणी का है। क्योंकि इसके संस्कृत में कोई साहित्यिक छटा नहीं दिखती है।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

(४२) ग्रन्थ नं० $\frac{२६३}{ख}$

रत्नत्रयोद्यापनपूजा

कर्त्ता—भट्टारक विश्वभूषण

विषय—पूजा

भाषा—संस्कृत

लम्बाई १० इञ्च चौड़ाई ८ इञ्च पत्रसंख्या ३२

प्रारम्भिक भाग—

श्रीवर्द्धमानमानम्य गौतमादींश्च सद्गुरून् ।
रत्नत्रयविधिं वक्ष्ये यथाम्नायं विमुक्तये ॥१॥
परमेष्ठी परंज्योतिः परमात्मा जगद्गुरुः ।
ज्ञानमूर्त्तिरमूर्त्तोऽपि भूयान्नो भवशान्तये ॥२॥
निर्विकल्पं निराबाधं शाश्वदानन्दमन्दिरम् ।
तोष्टुवीमि चिदात्मानं स्वस्वरूपोपलब्धये ॥३॥
यस्य ज्ञानान्तरिक्तैकदेशे सर्वं जगत्त्रयम् ।
एकमृक्तमिवाभाति तस्मै ज्ञानात्मने नमः ॥४॥
अनन्तानन्तसंसारपारावारैकतारकम् ।
परमात्मानमव्यक्तं ध्यायाम्यहमनारतम् ॥५॥
अनन्यशरणीभूयास्तद्गुणग्रामलब्धये ।
स्फुरत्समरसीभावमितोऽहं चिद्घनं स्तुवे ॥६॥

× × ×

मध्य भाग (परपृष्ठ २०, पंक्ति ४)—

यत्सत्त्वसन्तानविचित्रमेतत्त्रैलोक्यमप्याशु वशीकरोति ।
वात्सल्यमात्मोदयकारणं तत् सुदर्शनांगं हृदये ममास्ताम् ।
ॐ ह्रीं वात्सल्यांगाय नमः ।
सम्यक्त्वभावेन सुदृष्टिजातं शान्त्यष्टकं स्तोत्र(?) विधाय यत्न ।
वात्सल्यतां प्राह मनीषिकीभिः रसालहव्यैः प्रयजामि साधुम् ॥
ॐ ह्रीं पूज्यपादकं (?) वात्सल्यांगाय जलम् ।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

एकादशांगेन निरूपितं यत् ह्यकम्पनेनापि प्रकाशितं च ।
तत्पार्चयामि सदकैः रसालैः मुनीन्द्रवन्द्यं गतकल्मषं यत् ॥
ॐ ह्रीं अकम्पनाचार्यप्रकाशितैकादशाङ्गवात्सल्यांगाय जलम् ।
सान्तर्द्धेन पूर्वाणि चतुर्दश प्रकाशितम् ।
तद्वात्सल्यबुधैर्ज्ञानं खर्बुजैः संयजे फलैः ॥
ॐ ह्रीं चतुर्दशवात्सल्यसहितसाधुभ्यो जलम् ।
वरांगदनृपेणापि श्रावकाचारभाषितम् ।
सोऽद्यापि वर्तते लोके तं यजे तिन्दु नम्बकैः ॥
ॐ ह्रीं वरांगदनृपोपासकाचारवात्सल्यांगाय नमः ।
श्रुतबाह्याजिनैः प्रोक्तं चतुर्विंशतिवन्दनात् ।
तत्र वात्सल्यकं जातं तत् यजे वसुद्रव्यकैः ॥
ॐ ह्रीं श्रुतबाह्यचतुर्विंशतिवात्सल्यांगाय जलम् ।

× × ×

अन्तिम भाग—

प्रजापतिभाद्रसिते द्वितीयायां षडेव (षडेभ) सप्तशशिवत्सरेषु । रत्नत्रयं पाठ (?) चकार पूर्णं भडिल (?) पूजां मुनिविश्वभूषः ।

शोधयन्तु महापाठं वाग्मीकसुगिरा चिरम् ।
क्षम्यतां क्षम्यतां देवि ! यद्विरुद्धं मया कृतम् ॥
यावन्मेरुनदीगंगाः यावत्खे च सुतारकाः ।
तावत्तिष्ठतु मे पाठो मित्थ्यात्वतम (?) भास्करः ॥

इति विशालकीर्त्यात्मजो भट्टारकविश्वभूषणविरचिता रत्नत्रयोद्यापनपूजा समाप्ता ।

इस रत्नत्रयोद्यापन के कर्त्ता भट्टारक विश्वभूषण अपने को विशालकीर्त्ति का आत्मज बतलाते हैं। यह भ० विश्वभूषण वि० सं० १८१०* में होनेवाले भक्तामरकथा, पद्म-पुराण, इन्द्रध्वजपूजा, षण्णवतिक्षेत्रपालशान्ति आदि के रचयिता ही ज्ञात होते हैं। इनके दशलक्षणोद्यापन, जिनगुणसम्पत्युद्यापन आदि दो-तीन उद्यापन-सम्बन्धी ग्रन्थ भी मिलते हैं। इससे भी उपर्युक्त अनुमान प्रबल प्रतीत होता है। पर एक बात है—प्रस्तुत ग्रन्थ की प्रशस्ति में 'षडेवसप्तशशिवत्सरेषु' पाठ देख कर उक्त सम्वत् पर कोई सन्देह कर सकता है। पर यह लेखक की ही भूल ज्ञात होती है। वास्तव में यह प्रति है भी बहुत अशुद्ध। मेरे ख़याल से इसका पाठ 'षडेभसप्तशशि' होना चाहिये। इस पाठ से उक्त निर्णीत समय करीब-करीब असन्दिग्ध हो जाता है।

* देखें—'दिगम्बर जैन ग्रन्थकर्त्ता और उनके ग्रन्थ' पृष्ठ २७।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

THE JAINA ANTIQUARY

Vol. V DEC. 1939 No. III.

Edited by
Dr. B. A. SALETORE, M. A., Ph. D.
Prof. HIRALAL JAIN, M.A., LL.B.
Prof. A. N. UPADHYE, M.A.
Babu KAMTA PRASAD JAIN, M.R.A.S.
Pt. K. BHUJABALI SHASTRI, VIDYABHUSHANA

Published at
THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY,
ARRAH, BIHAR, INDIA.

Annual Subscription :
INLAND Rs. 4. FOREIGN Rs. 4-8. SINGLE COPY Rs. 1-4.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

CONTENTS.

PAGES.

1. JAINA LITERATURE IN TAMIL. By Prof. A. Chakravarti M.A., I.E.S. ... ... 67—74

2. MIND IN JAIN PHILOSOPHY. By S. C. Ghoshal, M.A., B.L., Sarasvati ... ... 75—79

3. ASOKA AND JAINISM. By Kamta Prasad Jain, M.R.A.S. ... 81—88

4. VADIBHA SIMHA AND VADI RAJA. By S. Srikantha Sastri, M.A. ... ... 89—94

5. SOME INSCRIPTIONS ON JAINA IMAGES. By Prof. A. N. Upadhye, M.A. ... ... 95—97

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

Om.

THE JAINA ANTIQUARY.

"श्रीमत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम् ।
जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥"

Vol. V. No. III | ARRAH (INDIA) | Dec. 1939.

JAINA LITERATURE IN TAMIL.

By Prof. A. Chakravarti, M.A., I.E.S.

Continued from Vol. V, No. II, page 42.

5. Padumaiyār Ilambagam—Since Jivaka expressed his desire to return home, Sudañjaṇa Deva, before parting with his friend Jivaka, instructed him in three important vidyās which might be useful to him in life. These are: (1) the capacity to assume a beautiful form to be envied even by the God of Love, (2) to cure the effects of deadly poison, (3) and to take any form desired. After instructing him in these three useful Mantras, the Deva directed his friend the way he is to take to reach home. Leaving the land of his friend Sudañjaṇa Deva, he roamed about in several places doing useful service to very many who were in suffering. Finally he reached the city of Chandrābha in Pallava Deśa. There he became a friend of Lokapāla, the Pallava prince. This Prince's sister Padmā, one day, when she went to gather flowers, got bitten by a cobra. Jivaka saved her from the effect of poison through the Mantra given to him by Deva Sudañjana. As a reward of this good service, he had Padmā given to him in marriage by the Pallava king. There he stayed for a few months when he left the city *in cognito* all of a sudden. The princess was in great sorrow because

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

of the disappearance of her husband. The king sent messengers in search of his son-in-law Jīvaka, who were told by Jīvaka himself in disguise that there would be no use in searching for him now, and that he would of his own accord return after nine months. With this glad tidings the messengers went back and comforted the princess Padmā. Thus ends the Padumiyār Ilambagam.

6. Kēmaśariyār Ilambagam—Then Jīvaka reached Kēmapurī in Ṭakka Nāḍu. In that Kēmapuri there was a merchant by name Subhaddiran. He had a daughter by name Kemaśari. Astrologers told this merchant that the youth who at the sight produced the emotion of modesty and love in his daughter would become her husband. The merchant in search of a son-in-law tried several times to bring about such a situation to discover the predicted emotions in his daughter. But all cases proved failure till he came upon Jīvaka. When Jīvaka was invited to his house, he observed to his great joy that his daughter Kemaśari at the first sight fell in love with Jīvaka. He gladly gave his daughter Kemaśari in marriage to Jīvaka who stayed with his wife for some time. Again he left the place in disguise, without the knowledge of anybody, to the great grief of his new wife Kemaśari.

7. Kanakamālaiyār Ilambagam—Then Jīvaka reached Hemapura in Madhya Deśa. Reaching the Udyāna in the outskirts of the city, he met Vijaya the son of Daḍamittan, the king of Hemapura. This Vijaya was attempting to get a mango fruit from a tree in the garden with the help of his arrow. But he could not succeed. The stranger Jīvaka brought down the fruit at his first aim; at this Vijaya was very much delighted; and he reported the stranger's arrival to the king, his father. The king was very much pleased to receive Jīvaka and requested him to instruct his sons in archery. When his sons became experts in archery as a result of Jīvaka's instruction, the king out of gratitude and pleasure offered his daughter Kanakamālai in marriage to Jīvaka. He was living with Kanakamālai for some time. In the meanwhile, his cousin Nandaṭṭan not knowing the whereabouts of Jīvaka wanted to go about in search of him. Gāndharvadattā, the Vidyādhara princess and

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

Jīvaka's first wife, gave the information about the exact whereabouts of Jīvaka at the moment. Through the help of her Vidyā, she managed to lead Nandaṭṭan to Hemapura where he stayed with his friends. Jīvaka's other friends went in search of him. On their way they met the old queen Vijayā in a Tavappaḷḷi. She was informed of all that happened to Jīvaka after she left the baby on the cremation ground. And she expressed a great desire to meet her son, and they promised to arrange for such a meeting within a month and left the Tavapaḷḷi to go to Jīvaka. While Jīvaka was living with his new wife Kanakamālai, they pretended to besiege the town in order to meet Jīvaka. Jīvaka with his cousin Nandaṭṭan gathered large forces and went out to meet the besieging army in battle. Padumuhan who was in charge of the army outside and a friend of Jīvaka despatched his first arrow with a message tied to it informing Jīvaka of his own identity and the object of the visit. When the arrow fell at the feet of Jīvaka, he picked it up and read the message to his great joy. Recognising that they were all his friends, he invited them all into the city and introduccd them to the king and father-in-law. When Jīvaka learnt from his friends about his mother and her eagerness to meet him, he took leave of the king and his wife Kanakamālai who was asked to stay with her father. He started from the city with all his friends to meet his old mother. Jīvaka together with his associates reached Daṇḍakāraṇya and met his old mother Vijayā. Vijayā embraced her son with great joy because of the separation of several years. Thus he spent 6 days in the Tavapaḷḷi with his mother Vijayā. She advised her son to meet his maternal uncle Govindarāja and to take his advice and help for the purpose of recovering his father's lost kingdom. He sent his mother in the company of a few female ascetics to his uncle's place, while he himself with his friends went towards Rājamahāpuram They all camped in a garden adjoining the city. Next day Jīvaka, leaving his friends there, went into the city assuming a beautiful form which could attract even the God of Love. While he was walking along the streets of the city, there appeared before him Vimalā who ran into the street to pick her ball which went astray while she was playing. At the sight of

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

that handsome Jīvaka, she fell in love with him. She was the daughter of a merchant by name Sāgaradatta. Jīvaka went and sat in Sāgaradatta's shop just to take rest The large stock of sugar, which he had in store for a long time unsold, was disposed off immediately after the visit of the stranger to the shop. This was taken to be a very good omen by the merchant Sāgaradatta, as he had learnt previously from the astrologers "that he whose presence would lead to the complete disposal of his unsold goods would be the proper son-in-law for him" He gladly offered his daughter Vimalā in marriage to this beautiful youth. Jīvaka accepted Vimalā in marriage and spent with her just two days and the third morning he went back to his friend's camp in the garden outside the city.

Suramañjarī Ilambagam—His friends observed Jīvaka with the marks of a fresh bridegroom and wanted to know the identity of his fresh matrimonial conquest. When Jīvaka told them that he married Vimalā, the merchant's daughter, they all congratulated him that he was the veritable Kāma. But one of his friends named Buddhiṣeṇa was not willing to congratulate him for this paltry achievement; for in the city there was one Suramañjarī who would not brook to see a male's face; and if Jīvaka succeeded in marrying her, then he would be congratulated as the veritable God of Love. Jīvaka took up the challenge. Next day he assumed the form of a very old Brāhmaṇa mendicant and appeared before the gate of Suramañjarī. Suramañjarī's maid servants informed their mistress of the appearance of the old Brāhmaṇa mendicant at her gate begging for some food. Suramañjarī, thinking that an old and frail Brāhmaṇa mendicant would not lead to the violation of her vow, instructed her servants to bring the old man into the house. There the old mendicant was received as an honoured guest and was offered the finest food that she could arrange for. After dinner the old man took rest on a beautiful bed prepared for him. After a few minutes' nap the old man sang a very beautiful song which was identitfied by Suramañjarī as Jīvaka's. This roused in her the old desire to win over Jīvaka for herself. She decided to go to the temple of Love the next day to offer worship to the God of Love that she might at last get Jīvaka as her husband. Even before

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

Jīvaka took the shape of a Brāhmaṇa mendicant, he arranged with his friend Buddhiṣeṇa that he should remain hiding behind the God of Love in the temple and that when Suramañjarī begged the God to help her to win Jīvaka he must answer her favourably from behind the idol So next day when Suramañjarī with her attendants wanted to go to the temple of Love, she took with her in the carriage this old Brāhmaṇa mendicant. He was left in one of the front rooms of the temple, while Suramañjarī went into the temple to offer Pūjā. After the Pūjā was over, she begged the God of Love to promise success in her adventure. Immediately there came a voice from inside the temple "Yes, you have won already Jīvaka." In great delight she wanted to return home; and when she went to pick up the old mendicant on her way, Lo! she found there the youthful prince Jīvaka instead of the old Brāhmaṇa mendicant. There was no limit to her joy. She clasped him in great delight and announced that she would marry him. The matter was intimated to her father Kuberadatta who was very glad to have the marriage celebrated immediately. From this city of Rājamāpura he took leave of his foster-father and went out with his friends in the disguise as a horse-dealer.

Maṇmagal Ilambagam – Thus Jīvaka with his friends entered Vidaiya Nāḍu, the land of his uncle Govinda Rāja. He was received by his uncle with great joy. There he discussed with his uncle as to the method of reconquering his country Hemāṅgada from the usurper Kaṭṭiyaṅgāran. Govinda Rāja tried to get Kaṭṭiyaṅgāran to his place by a stratagem This Govinda Rāja had a beautiful daughter named Ilakkaṇai. He proclaimed the conditions of a Svayaṁvara and set up a machine in the form of a boar which was always rotating; he who successfully hit the rotating boar would be accepted as the fitting husband to the princess. Kaṭṭiyaṅgāran and several other princes were assembled at the court of Govinda Rāja in order to try their luck at the Svayaṁvara. But none was really successful At last Jīvaka appeared on the scene on the back of an elephant. The very sight made Kaṭṭiyaṅgāran frightened. Jīvaka, whom he considered to be dead and gone, was

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

before him fully alive. He got down from the elephant's back and hit at the boar mark successfully with his arrow, and won the hand of the princess in the Svayaṁvara. Then his uncle Govinda Rāja openly announced who this young man was and sent an ultimatum to Kaṭṭiyaṅgāran to return back his kingdom. But Kaṭṭiyaṅgāran accepted the challenge and preferred to fight. He was defeated and killed in a regular battle together with his hundred sons. Jīvaka was victorious. At the news of the victory, his old mother was in great joy and felt that her life-purpose was fulfilled.

Pūmagal Ilambagam—Then Jīvaka after the victory marched to his own city Rājamāpuram where he had the coronation ceremony conducted in a grand manner to the delight of his friends and relations. This is spoken of as the marriage with the Bhūmi Devī, the Spirit of the earth, because Jīvaka's previous career was one of a glorious stream of marriages.

Ilakkaṇai Ilambagam—After assuming the kingship over Hēmaṅga Nāḍu he had the celebration of the marriage with his uncle's daughter Ilakkaṇai who was won in the last Svayaṁvara, by his successful hitting at the boar-mark, and rewarded all his friends in a fitting manner. His foster-father was elevated to royal honour. His friends were given several presents. He gave away all the wealth of Kaṭṭiyaṅgāran to his uncle Govinda Rāja. He built a temple in honour of his friend Sudañjaṇa Deva. Thus during his reign all were satisfied and the country enjoyed plenty and prosperity.

Mutti Ilambagam—While they were all living in happiness, one day his old mother Vijayā expressed her desire to renounce all these worldly pleasures and wanted to live the life of an ascetic. Thus, with the permission of her son and king, she spent her remaining days in a Tāpasa āśrama in prayer and spiritual discipline. The king Jīvaka, while wandering in the Udyāna one day, noticed a curious phenomenon. He observed a monkey with her lover enjoying their happy life. Immediately he saw the male monkey fetching a fine jack fruit to offer to his mate. Just then the gardener noticing the jack fruit in the hands of the monkey, beat him with

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

his stick and took away the jack fruit which he did eat. When this was noticed by Jīvaka, he realised that this was symbolic of all worldly riches, always taken possession of by the mightier at the cost of the weaker. Even royal honour is no exception to this. Everywhere he found the principle "that might is right" triumphant. He saw that in the life of Kaṭṭiyaṅgāran and he intimately knew in his own life the same principle illustrated. Royal honour resting on such unethical foundation was certainly not the thing to be coveted for. Therefore he resolved to abdicate his kingdom in favour of his son and retire from sovereignty to spend the rest of his life in penance. So he went away to the place where Mahāvīra was, got instruction in spiritual matters from Gaṇadhara Sudharma who initiated him into spiritual life and penance. Thus Jīvaka spent the rest of his period in meditation and finally attained Nirvāṇa as the fruit of his meditation and penance. Thus ended the glorious life of the great Kṣatriya hero Jīvaka in whose honour this monumental Tamil classic was composed by the author Tiruttakka Dēva.

This classic contains 3145 stanzas. An excellent edition containing a fine commentary by Naccinārkkiniyar is now available, and it is by the famous scholar Mahāmahopādhyāya Dr. V. Swaminatha Ayyar who has devoted all his life to the publication of rare Tamil classics.

Let us now turn to the five minor kāvyas which are (1) Yaśōdhara Kāvya, (2) Cūḍāmaṇi, (3) Udayaṇan Kathai, (4) Nāgakumāra Kāvyam, and (5) Neelakēśi. All these five minor epics were composed by Jaina authors.

(1) Yaśōdhara Kāvya—Unlike Jaina literary works in Sanskrit where the authors generally give a bit of autobiographic information, either at the beginning or at the end of the work, in Tamil literature the author maintains absolute silence on that matter. It is very often difficult to know even the name of the author, not to speak of other details relating to his life. We have to depend upon purely circumstantial evidence as to the life of the author. Sometimes such

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

circumstantial evidence will be extremely meagre, and we have to confess our ignorance about the author and his life. Such is the case with this Yaśōdhara Kāvya Practically nothing is known about the author except that he was a Jaina ascetic. From the nature of the story all that we can infer is that it is later than the Hindu doctrine of Yāga as reformed by Madhvācārya. Madhvācārya, the famous Vedantic scholar, introduced a healthy reform that Vedic ritual could very well be continued without involving animal sacrifice if a substitute for the animal be introduced in the same form made of rice-flour. The story of Yaśōdhara Kāvya is evidently intended to reject this ritualism even with this substitute. The moral value of conduct depends upon the harmony between thought, word and deed, Manas, Vāk and Kāya. In this particular form of ritualism, though the actual deed is avoided, there is still lacking the harmony and co-operation of the other two. The desire to sacrifice an animal and to pronounce the necessary Mantras being there, the substitution of a mock-animal would not relieve an agent of any of his responsibility for animal sacrifice. This seems to be the main theme of the story in which incidentally many of the doctrines relating to the Jaina religion are introduced. Hence the work must be placed after the period of the reformation in ritualism associated with the founder of Mādhva philosophy.

Contd.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

MIND IN JAIN PHILOSOPHY.

BY

S. C. Ghoshal, M.A., B.L., Sarasvati.

We propose in this short article to summarise the view of Jain Philosophers whether mind is to be regarded as a sense or not and compare this view with the same in Hindu Philosophies.

The earliest references to Manas in the Vedic literature show that Manas was not regarded as an Indriya (sense) In the Atharva-Veda (Kanda 21, Anuvaka I-9-5 we find.

"इमानि यानि पंचेन्द्रियाणि मनःषष्ठानि मे हृदि ब्रह्मणा संशितानि ।"

i.e. " these five senses making up six with Manas have been placed by Brahma in my heart."

Here the Indriyas are clearly mentioned to be only five. When Manas is added to this number, the total becomes six.

When later philosophers tried to establish that Manas is an Indriya, they argued that by " Manas making up the sixth " it is meant that Manas also is an Indriya. But the method of interpretation of the Vedas is laid down in detail in the Mimāmsā philosophy. In it, it has been mentioned that we find in the Vedas the injunction " यजमानपंचमा इडां भक्षयन्ति " *i e.* " The five including the sacrificer eat the Idā oblation." Here the four are the four kinds of Ritvik priests and the fifth is the sacrificer. So it cannot be said that by the expression " Yajamāna making up the fifth," the sacrificer becomes one of the Ritviks. The sacrificer is ever distinct from the priests. By no streach of imagination he can be included within the priests.

Another example is quoted in this connection: " वेदानध्यापयामास महाभारतपंचमान् " *i.e.* " He taught the Vedas making up five with the Mahābhārata." It is urged that the Mahābhārata is not a Veda. So by saying " Mahābhārata making up the fifth," it cannot be said that this becomes a Veda.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

So the above text of the Veda is to be interpreted as "five Indriyas with Manas totalling six" and it must be understood that Manas is not a sense.

In Vedānta-paribhāṣā by Dharmarājādhvarindra it is mentioned "न तावदन्तःकरणमिन्द्रियमित्यत्र मानमस्ति।" *i.e.*, "There is no proof that Manas (Antaḥkaraṇa) is a sense." The above examples of the use of "Yajamāna-pañchamā" and "Mahābhārata-pañchamān" are quoted and the author after quoting "मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति।" Gita XIV. 7 lays down: No contradiction results in filling up the number six with Manas, though Manas be not reckoned as an organ of sense. There is no positive injunction restricting the completion of the number relating to the organs of sense to such an organ only." To support this view the following from Katha Upanishad (III. 10) is quoted:

"इंन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्थाः अर्थेभ्यश्च परं मनः।"

i.e. "Objects are beyond the organs of senses, mind is beyond the sense-organs."

It is peculiar however that by mentioning Antaḥkaraṇa as Manas, the author of Vedāntaparibhāṣā indirectly accepts mind as a sense. Karaṇa means a sense and while the senses of touch, taste, smell, sight and hearing are said to be external senses (बहिरिंन्द्रिय), Manas is said to be internal sense (अन्तरिंन्द्रिय).

In the Vedas also we find "एतस्माद् जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च।" *i.e.* "from Him is produced Prāṇa, Manas and all Indriyas." There are various views regarding the number of Prāṇas in the Vedas. But from this, it is found that mind is mentioned separately from all Indriyas.

Saṇkarāchārya in his Bhāṣya as Vedānta Sutras II 4. 6-17 have discussed the views of different Śrutis regarding Prāṇa and Manas. He has come to the conclusion that Prāṇas are eleven in number, ten senses and one Antaḥkaraṇa (which is mentioned as Atmā) ("दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादश; आत्मशब्देनात्रान्तःकरणं परिगृह्यते।"). In his Bhāṣya on Vedānta-Sūtra II 4. 17, he says that though Manas is separately mentioned from Indriyas it should be taken as an Indriya from the injunction of the Smritis.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

("स्मृतौ त्वेकादशेन्द्रियाणीति मनोऽपीन्द्रियत्वन श्रोत्रादिवत् संगृह्यते।")

The view of the Smritis will appear from the following from Manu-saṃhitā (II. 89-92).

"I shall mention serially the eleven senses as mentioned by the early sages. The five are hearing, touch, sight, taste and smell. Taking Pāyu, upastha, hands, feet and voice, ten are made. The five hearing etc., are called Buddhīndriya and the five Pāyu etc., are called Karmendriya. The eleventh is Manas which is of both kinds according to its own quality."

In the Gita Manas has been accepted as a sense for it is mentioned in X-22 "I am the Manas among the senses" meaning the best of the senses *e.g.*

"वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः।
इंद्रियानां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना॥"

In Sāṅkhyā Sūtra II-26 we find उभयात्मकमत्र मनः *i.e.*, "Mind is of both kinds (Jñānendriya as well as Karmendriya). In Sāṅkhya-karika 27 we find the same view.

Gautama in his Nyāya sūtras has excluded the five Karmendriyas Vāk, Pāda, Pāni, Pāyu and Upastha in enumerating senses and has taken consideration of only the five Jñānendriyas *viz.*, the senses of touch, taste, smell, sight and hearing. Mind has been accepted as sense in the Hindu Nyāya philosophy but it has been distinguished from the five senses as mentioned above. It has been mentioned that the true senses touch, taste etc., are fixed in their particular objects. For example, the sense of smell can produce a knowledge of smell but not of taste, sight etc. The mind however can apply itself to every object in all its qualities. In mind there is no special quality like those existing in senses *e.g.*, smell etc., Vātsyāyana in his Bhāṣya to Nyāya-sūtra I. 1-4 affirms this in the following :—

"भौतिकानीन्द्रियाणि नियतविषयाणि, सगुणानांचैषामिन्द्रियभाव इति। मनस्तु अभौतिकं सर्वविषयञ्च, नास्य स्वगुणस्येन्द्रियभाव इति। सति चेन्द्रियार्थसन्निकर्षे सन्निधिमसन्निधिञ्चास्य

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिकारणं वक्ष्याम इति। मनश्चेन्द्रियभावान्न वाच्यं लक्षणान्तरमिति। तन्त्रान्तरसमाचाराच्चैतत् प्रत्येतव्यमिति।"

Udyotkara in his Nyāya-vārtika also supports the same view *e.g.* "मनः सर्वविषयं स्मृतिकारणसंयोगाधारतात् आत्मवत् सुखग्राहकसंयोगाधिकरणत्वात् समस्तेन्द्रियाधिष्ठातृत्वात्।"

Now, let us see what is the view of Jain philosophy in this matter. The Jain Logic affirms like the Hindu Nyāya that the Indriyas are five (subdivided according to Dravya and Bhāva). In Pramāṇa-Mimāmsā of Hemachandra I. 1-22 we find :

"स्पर्शरसगन्धरूपशब्दग्रहणलक्षणानि स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणीन्द्रियाणि द्रव्यभावभेदानि।"

Mind is called in Jain Logic Anindriya or No-indriya. But by this, it should not be imagined that mind is not a sense. Hemachandra says that mind takes all objects "सर्वार्थग्रहणं मनः" (Pramāṇa-mīmāṃsā I. 1. 25) that is to say it does not take objects of touch only as is done by the sense of touch, but objects which can be cognised by other senses also. The mind is called Anindriya or No-Indriya ("सर्वे न तु स्पर्शनादीनां स्पर्शादिवत् प्रतिनियता एवार्था गृह्यन्ते तेनेति सर्वार्थग्रहणं मनोऽनिन्द्रियमिति नो इन्द्रियमिति चोच्यते।" Bhāṣya to I. 1-25 Pramāṇa-mimaṃsā).

Akalaṅka Deva in his Tattvārtharājavārttika on Sūtra I-14 has laid down : Mind is called Anindriya (" not Indriya ") like Anudarā (" without a belly "). "अनिन्द्रियं मनोऽनुदरावत्।" This is explained in the commentary as follows :—

"मनोऽन्तःकरणमनिन्द्रियमित्युच्यते। कथं इन्द्रियप्रतिषेधेन मन उच्यते ? यथानुदरा कन्या इति नास्या उदरं न विद्यते, किन्तु गर्भभारोद्वहनसमर्थोदराभावादनुदरा। तथानिन्द्रियमिति नास्येन्द्रियत्वाभावः। किन्तु चक्षुरादिवत् प्रतिनियतदेशविषयावस्थानाभावादनिन्द्रियं मन इत्युच्यते।"

i.e. "Min is called Antaḥkaraṇam or Anindriya. Is mind mentioned as not being a sense ?

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

(It should not be supposed that mind is not an Indriya) We call a female who is unable to conceive 'a woman without a belly, This does not mean that really this female has no belly at all but the meaning is that she is unable to conceive. So by the use of the word 'Anindriya,' it is not laid down that this (mind) is not an Indriya. But as mind does not always exist in a particular object of sense like eye etc, it is called Anindriya."

The difference between mind and other senses is as follows. In case of the senses of sight etc., impressions of objects arise on contact of the senses with objects. But mind does not produce impressions of objects on contact in this manner.

Thus the view of the Jain Logic is in accordance with the view that preponderates in the Hindu philosophy regarding mind being a sense. But though Jain Logic accepts mind as a sense, it calls it a small or intangible sense (No-Indriya or Iṣat-indriya) because it is not materially cognisable like other senses. Its function according to Jain view is discernible only by highly developed souls who have Manaḥparyaya Jñāna the knowledge of thoughts of others).

The earlier view in the Hindu Śāstras as can be found from the Vedic literature is that mind is not a sense. In the Smritis and different systems of philosophy which followed, mind is taken as a sense. In the Vedic literature, the number of senses is five, in the Śmritis and Sāṅkhya Philosophy the number is eleven (five Jñānendriyas, five Karmendriyas and mind). In Hindu Nyāya philosophy however, only the five Jñānendriyas and Manas are accepted as senses.

The view of Jain Logicians is the same as that laid down in Hindu Nyāya Philosophy. They accept mind as a sense but at the same time they emphasise its difference from other senses by calling it Anindriya or No-indriya according to its peculiar characteristic *viz*, that it is not confined to particular objects cognizable by particular senses or contact but it can cognize all objects, cognizable by the five senses.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

Asoka and Jainism.

BY

Kamta Prasad Jain, M. R. A. S.

Continued from Vol. V. No. II, page 60.

Evidence of Asoka's Inscriptions.

The inscriptions of Asoka which are brought forward to vouchsafe his Buddhistic belief, unfortunately do not seem to support it. "Three of these historical inscriptions of Asoka," says Rev. H. Heras "speak of the time in which he became an *upāsaka*, a 'lay worshipper' (Sahasrām R. I., B.—Brahamagiri R. I., C.) while their parallel inscription of Rupnāth says that he was 'openly a Sākya' (Rup. R. I., B) and the one of Maski reads 'a Buddha Sākya' (Maski, R. I., B). Does this mean that he became a Buddhist believer on this occasion? It is not clear. We must not place too much importance on the word itself forgetting the spirit of the sentence. Certainly *upāsaka* means a layworshipper, but a lay-worshipper does not mean anything else than one who is not properly acquainted with the deep dogmas of his faith and has not been initiated with its mystries. This word *upāska* may, therefore, be interpreted as referring to Aśoka's conversion after the Kalinga war, *i.e.*, his becoming a lay-worshipper. Naturally he could also call himself Śākya and Buddha-Śākya, because any conversion is a kind of enlightenment, and he could therefore consider himself the enlightened one. Such is the meaning of the word *upsāka*, Śākya and Buddha-Śākya." [46]

With due defference to Rev. H. Heras' learned opinion, I may differ here a bit from him. For I would like to attach a special importance to the word *upāsaka*, since it is only used as a technical term for the lay-worshipper either in Jainism or Buddhism. Therefore it denotes that Asoka became a lay-worshipper of either sects at this stage of his life. Besides though it is true that the reading of Asokan edicts is almost certain, yet I may be further allowed to

46. JMS. XVII, p. 273.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

state that at certain places it is not conclusive yet. Scholars have substituted letters at places from their own guess, believing that Asoka was a Buddhist. Hence they differ in reading them. For instance in the Rupnāth Rock inscription a certain scholar has read the word '*Sāvake*' (Skt. Śrāvaka) instead of 'Śākya' [47] and it will prove that Aśoka really became a Jaina layman, for it (Śrāvaka) has been substituted here as a parallel for the word '*upāsaka*' (lay-worshipper) used in the Bairāṭ and Sahasrāma inscriptions and in Buddhism the former ('Śrāwaka) word has a different meaning than the latter (upāsaka) one. It is used there for a Buddhist monk.[48] Hence these words being not synonymous in Buddhism as they are in Jainism, betray the truth that Asoka became a layman of Jain pursuasion at this stage of his life.

No doubt Asoka's leaning towards Buddhism and his interference with the Sangha for establishing peace between its members are facts borne out by his edicts themselves.[49] And it may also be taken for the time being as true that Aśoka styled himself as a 'Buddha Śākya.' But in these all instances I would like to point that Aśoka's affectionate regard for his queen named Devi who was a Śākya by birth and a Buddhist by belief [50] worked and influenced him. A parallel instance in the latter Indian history is found in the life of Hoyasal King Viṣṇuvardhana, who though in his after-life became a convert to Vaiśnavism, yet continued to grant villages as donations to Jaina temples simply out of regard for his queen who professed Jainism till death [51].

Moreover it is evident that after the visit of Asoka to the Buddhist Sangha, he issued two decrees: one for all his subjects and another for the members of the Buddhist Sangha. "The former," writes Rev. H. Heras "is the one contained in the Rūpnāth

47. Janārdana Bhaṭṭa, "Aśoka Ke Dharma Lekha", p. 69.

48. Bhagwān Mahāvîrā Aur Mahātmā Buddha, Foreword, p. 12.

49. Mookerjee, Asoka, pp. 61—68.

50. *Ibid*, p. 9 'Vedisa-Mahādevî, Śākyakumārî.

51. Jain Śilālekha Saṁgraha (M. G. Bombay), Intro. : p. 84—94.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

and cognate edicts. We must note that this document though it is the first exposition of the Dharma after his visit to the Sangha, does not give any precept we might call Buddhist. The other document addressed to the Sangha itself is thoroughly different. This is the Calcutta-Bāirat R. I. This document has been supposed to be the profession of Buddhistic faith of Aśoka. It would have been so, if addressed to all his subjects, but it was addressed only to the Saṁgha: 'The Magadha King Priyadarśin having saluted the Saṁgha, hopes they are both well and comfortable.' Then it is not strange to hear him adding: 'it is known to you, Sirs, how great is my reverence and faith in the Buddhá, the Dharma and the Saṁgha. Whatsoever, Sirs, has been spoken by the blessed Buddha, all that is quite well spoken.' This is not a profession of faith. The document being addressed to the monks themselves, he could not say otherwise, Aśoka had to observe the injunction given to all the sects; not to say anything against another sect and to foster the purity of his doctrine. In order to obtain this, he recommends both the monks and the nuns as well as the laity to read often and meditate upon seven extracts of Buddha's Dharma. It is worth noticing the difference between the document addressed to the Dharma (saṁgha?) and Rūpnāth R. I., written at the same time, but addressed to all the subjects of his vast Empire. Even Prof. Bhandarkar remarks that the six passages recommended in the Calcutta-Bairat edict do not express any ritualistic or metaphysical element of Buddhism." (JMS. XVII. pp. 274-75.)

It is also remarkable that while reviewing his work of propogating the Dharma in the last pillar edict, Asoka did neither mention at all the names of those Buddhist monks whom the tradition assign to have been appointed by him for propagation of Dharma, nor he state anything about the Buddhist council said to have been held during his sign.[52] Buddhist travellers like Fahian and Hieuntsang only mention the inscriptions of Aśoka as ancient records.[53]

52. P. E. 7. 53. Mookerjee, Asoka, p. 14 F. N. 3.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

They do not say that they were the monuments of Buddhistic Religion and work of a devout Buddhist king.

These all facts point that the inscriptions of Aśoka do not support the view of his being a Buddhist votary.

Aśoka's visit to sacred places.

It is also inferred from the inscriptions of Aśoka that he visited many sacred places, most of which were Buddhistic one. But the word '*Sambodhi*' used in the 8th Rock Edict and passed for the 'Tree of Enlightenment' (Bodhi Vrakṣa) of Gautama Buddha do not seem tenable.[54] It is rather meant that Aśoka attained to right knowledge at this stage. It is evident from the Jaina scriptures that the attainment of '*Bodhi*' is essential in *Dharma-Mārga* ; which is significant in as much as it will denote a follower of Dharma as a way-farer of Right Path.[55] Aśoka seems to use the phrase about getting to *Sambodhi* in this very sense. Therefore it cannot be said that he visited the *Bodhi-Tree,* sacred to the Buddhists. Of course on another occasion he visited the Birth-place of Buddha [56] ; but it do not prove anything in favour of his supposed belief in Buddhism, for there are available on the otherhand instances from which it is clear that Aśoka honoured even those sects which were regarded as rivals of Buddhists. In the 20th year of his reign Aśoka visited and worshipped the Stûpa of Konakamuni ; who was a previous Buddha, worshipped by the sect of Devadatta, rival of Buddha.[57] Thus it is evident that Aśoka honoured all the sects in a like manner.

And if we finds "Mahāvaṃśa" stating that Aśoka erected many Buddhist buildings, [58] the "Rājataringiṅî" on the other hand states that he built many Brahmanical temples in Kashmir.[59] The

54. Rock Edict 8 C.—Mookerjee, Asoka p 151, F. N. 2.

55. Mūlachāra 'सेयं भवभय महणो बोधी गुणवित्थडा मगे लद्धा ।
जदि पडिदा ण हु सुलहा तह्मा ण खयं पमादोमे ॥२५८॥" मूलाचार ।

56. Mookerjee, Asoka p. 201. 57. Smith, Early Hist. of India, p. 33.

58. Mahāvaṃśa, V. p. 23. 59. Rājataringini, p. I 20.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

Rājāvalikathe" states likewise that Aśoka having visited Śravaṇa-belagola built Jaina temples there [60] and if we may give credit, which we should, to the interperetition of Mr. Thomas of the passage of the "Rājataringinî," which speaks about the preaching of the Religion of Jina by Aśoka in Kashmir, we find the belief of Aśoka in Jainism vouchsafed by the author of Rājatāraṅgiṇî as well.[61] Abulfazal clearly distinguishes between Jainism and Buddhism, when he refers to the act of preaching of Jina-Dharma by Aśoka in Kashmir.[62] Moreover the word '*Jina*' has a great importance in and is significant of Jainism.[63]

Hence keeping in view the above arguments it is not bold to say that there is nothing in his inscriptions which prove the Buddhist faith of Aśoka. "We have been mislead," Says Rev. H. Heras, "by the Buddhist chronicles long ago. Modern criticism cannot accept other documents referring to Aśoka than his own inscriptions. And these do not say that he embraced the doctrines of Gautama."[64]

Aśoka's State Policy and Administration.

After the Kalinga war Aśoka was so disgusted with bloody wars that he sweared to have no more of them. Rather he professed and preached henceforth the principle of *Ahiṁsā* for the good of man and beast alike. His royal injunctions for the protection of life are akin to the idea of Ahiṁsā in Jainism. "Nothing of a Buddhist spirit," says Dr. Kern, "can be discovered in his state policy. From the very beginning of his reign he was a good prince. His ordinances concerning the sparing of animal life agree much more

60. Jaina Śilalekha Saṃgraha, Introduction; p. 61.

61. JRAS., Vol. IX pp. 155—191.

62. "Va Chūni farmāndahî bāśoka pisare Amma Rājā Janaka bāza kar dída Kaiśe Brāhmaṇa andākhatah āyîne Jaina bar grafta." *cf*: "Va āyîne Bodha dar āṅ zamānā rawayî yāfta." *i.e.*, "At that time (during the reign of Jaloka Buddhism flourished," and "dar Zamane Rājā Narabrahmā na bar Bodha chîrab dasta amadand va parastiśa jāye ān khāka to dahe gaśta."

63. Indian Historical Quarterly, Vol. III p. 575.—JRAS., Vol. IX. p. 183.

64. JMS., XVII, p. 276.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

closely with the ideas of the heretical Jainas than those of Buddhists." [65] He is an ideal of a Jaina King and seems an ardent follower of the faith like a true Jaina of latter periods; for it is remarked by Bulher that "In practical life Jainism make of its laity earnest men who exhibit a stronger trait of resignation than other Indians and excel in an exceptional willingness to sacrifice anything for their religion. It makes them also fanatics for the protection of animal life. Wherever they gain influence there is an end of bloody sacrifices and of slaughtering and killing the large animals."[66] In the reign of Aśoka this very spirit of Ahiṁsā pervailed at large. Like Jainas he opened hospitals even for animals and proclaimed "*Amārîghoṣa*" at many a occasion [67] Aśoka awarded capital punishment to those culprits who were found guilty of injury to animals. The Jaina Kumārapāla also issued such strict orders for the protection of animal life.[68] Aśoka abolished the killing of animals on all accounts. No body was allowed to kill any living being either for the sake of his religious belief or to satiate his sensual cravings. Thus Asoka's reign was a guarantee of life to every living being and as such it was truly a 'Jaina Rājya'!

Evidence to prove the Jain Faith of Aśoka.

But what is there expressive to prove Asoka's belief in Jainism? Certainly the literary evidence referred to above is far more latter and might be deemed open to doubt. Therefore we should rely only on the inscriptions of Aśoka to prove his faith in Jainism We shall divide this evidence in the following heads and deal with them below one by one :—

(1) Asoka's monuments and symbols;
(2) Asoka's technical terms;
(3) Asoka's teaching and philosophy; and
(4) Asoka's missions to foreign countries.

65. Manual of Indian Buddhism, p. 275.

66. Indian sect of the Jainas, pp. 17—18

67. Mookerjee, Asoka, pp. 22ff. For animal hospitals of Jainas See JRAS. (Old series) Vol. I pp. 96-97; Indian Antiquary, Vol. III (1874) pp. 77—81; and L. Rousselet, l'Inde des Rajahs (1875) pp. 17—18 & 98

68. Early History of India, p. 155.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

But before examining the above evidence it seems necessary to refer to Asoka's three stages of mind in striving for Dharma, as pointed out by Rev. H. Heras; to whom I am much indebted for quoting *et large* from his learned article. It is said in the 13th Rock Edict of Aśoka. "After that, now that the country of the Kalingas has been taken, Devānāmpriya is devoted to a zealous study of morality to the love of morality and to the instruction of the people in morality"[69] Thus these three stages are (1) Study of Dharma (2) Love of Dharma (3) and propogation of Dharma and these are in quite agreement with the teaching of Jaina scriptures; for it is said in them that Piety follows knowledge (पठमं नाणं तओ दया) Aśoka first acquired knowledge of Dharma and was assured just like a Jaina that the gift of Dharma is the best. Naturally he became a zealous lover to propagate the Dharma. It looks as if Aśoka is following here in the steps of the Jaina Tîrthaṁkara, who having studied and having acquired the supreme knowledge, filled his heart of hearts with immense love and piety and set on preaching the Dharma to one and all—low and high, man and beast—all alike [70] Did not Asoka exhort likewise one and all to practise Dharma ?[71] It also speaks for his belief in Jainism.

Asoka's monuments & symbols.

Though the building of cities, *vihāras, stûpas,* caves and pillars and rails of stone, bearing inscriptions or artistic sculptures, are assigned traditionally to Asoka; but out of them at the present his pillars and inscriptions only are available. In Jainism pillars have a special place and they are a thing of worship for the Jainas from

69. JMS., XVII pp. 256—257.

70. Kalpasutra (1848) pp. 82—96—Samavāyāṅga Sutta.
"भगवंयणं धम्ममाइक्खइ तेसिं सव्वेसिं आरियमणारियाणं दुप्पय चउप्पय मियपसुपक्खि सरीसिवाणं अप्पप्पणोत्थि सिवसुहदाय भासत्ताए परिणमइ—"
—समवायाङ्गसुत्त,

71. In Rock Edict VI th Asoka says:—
"There is no higher duty than the welfare of the whole world. And what little effort I make is in order that I may be free from debt to the creatures, that I may render them happy here and they may gain heaven in the next world."

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

time immemorial.[72] They are called *Mānasthambhas* and the chief aim in building them lies in the idea of imparting the sacred glimpse of Tirthaṁkara's " *Shānti-mudrā* " to all living beings through their images engraved on them, so that they may attain tranquillity of mind and peace of soul. Many a Jain king built such pillars and many of them are found mounted with lion and other animals and decorated with sacred Jain symbols, *e.g. Dharmacakra* etc.[73] Thus it seems most probable that Aśoka grasped the idea of building pillars for propogation of his Dharma from the Jainas The animals and symbols which he used are also those found in Jainism.[74]

Moreover the places which Asoka chose for erecting his pillars are not exclusively Buddhistic. They are found either at important centres or on the sacred places of all the ancient Indian Religion. The places like Girnār, Srāvastî, Vaiśālî and Rājagrha are sacred to Jainas. Vaiśālî seems to be an exclusively Jaina *tîrtha* being the birth place of Vardhamāna Mahāvira, the last Tîrthankara and Prof. R. Mookerjee states that " this might explain the location of this pillar."[75] This pillar is also surmounted by a lion, which animal is the signifying emblem chinha of the last Tîrthaṁkara.

In the manner of Jain King Khāravela,[76] Aśoka also got excavated many a cave for the use of *Śramaṇa* ascetics.[77]

72. 'पडिमाणं अग्गेसुं रयण थंभा हवंति वोसपुढ़ं ।
पडिमा पीढ सरिच्छा पीठा थंभाणणादव्वा ॥'
—तिलोयपण्णति,

'ततोऽन्तरांतरं किं चिद्गत्वा हेममयोन्नताः ।
अधोमध्यजिनार्च्यांगा ध्वजछत्राभूषिताः ।
चतुर्गोपुर संबद्धशालभि तयवेष्टिताः ।
रेजुर्मध्येषु बीथीनां मानस्तंभा मनोहराः ॥
—मल्लिनाथपुराण,

73. " Vira "—'Kalāṅka ' 1934.
74. JRAS., Vol. IX pp. 161—168.
75. Mookerjee, Asoka p. 86.
76. JBORS., Vol. III pp. 465—467.
77. Mookerjee Asoka, p. 89.

To be continued.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

VĀDIBHA SIMHA AND VĀDI RĀJA.

BY

S. Śrīkaṇṭha Śāstri, M.A.

In the *Jaina Siddhānta Bhāskara* (*Bhāga* VI, *Kiraṇa 2.* Pandit K. Bhujabali Śāstri is of the opinion that Vādibha Simha must be placed in the latter half of the 11th century and was the contemporary of the Cola Rāja Rāja II. There is no doubt that Vādi Simha mentioned by Jina Sēna II [1] in his Mahāpurāṇa is a different individual from the later Vādibha Simha. But Vādibha Simha can not be placed in the latter half of the 11th. Century for the following reasons :—

(1) The commentary on the *Yaśas tilaka campu* of Śomadēva Sūri (not Soma Sēna) says (p. 265 *Kāvyamālā* Ed.)

उक्तं च वादिराजेन महाकविना—
कर्मणा कवलिता जनिता जातः पुरांतरजनंगमवाटे ।
कर्मकोद्रवरसेन हि मत्तः किं किमेत्यशुभधाम न जीवः ॥
स वादिराजोऽपि श्रीसोमदेवाचार्यस्य शिष्यः :—
वादीभसिंहोऽपि मदीयशिष्यः ।
श्रीवादि राजोऽपि मदीयशिष्यः । इत्युक्तत्वाच्च ।

Sōma dēva Sūri completed this campu on Friday, March 25, 959 A.D. in the reign of Vāga Rāja, the son of the Cālukya Arikesari (who had been the patron of the Kannada poet Pampa). The emperor was Rāṣṭrakūṭa Kṛṣhṇa III who had just then completed the conquest of the Cōḷa country and had his camp at Mēlpāṭi (cf. *Karhad grant* of *Kṛshṇa* III). If therefore Sōmadēva lived in C. 950

---

(1) कवित्वस्य परा सीमा वाग्मित्वस्य परं पदम् ।
गमकत्वस्य पर्यन्तो वादिसिंहोऽर्च्यते न कैः ॥
Mahā Purāna 1—54.

Also :—

स्याद्वादगिरमाश्रित्य वादिसिंहस्य गर्जिते ।
दिग्नागस्य मदध्वंसे कीर्तिभंगो न दुर्घटः ॥
Vādirāja's Pārśvanātha Charita.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

A. D., his disciples cannot be placed in the last half of the 11th Century.*

(2) The Belgāmve grant to tha Lākuḷa Vādi Rudra gaṇa by Chālukya Jayasimha II Jagadēkamalla in 1035 A.D. (Ś. 957, Yuva sk. 126. E.C. VII) gives the following titles to Vādi Rudra gaṇa.

" *Advaita vādi bhūja Kuṭhāram, Akaḷamkatripura dahana triṇētram, Vādi gharaṭṭa diśāpaṭṭa, Vādībha Simha Śarabham, Vādi Rāja mukha mudra naya vādi disāpaṭṭam* " etc.

Vādi Rudra gaṇa therefore† claims that before 1035 A.D., he had defeated Advaitins, Akalaṁka, Vādi gharaṭṭa, Vādibha Simha, Vādirāja etc.

(3) The verse in *Kṣatra cūḍāmaṇi*—

राजतां राजराजोऽयं राजराजो महोदयैः ।
तेजसा वयसा शरः क्षत्राचूडामणिर्गुणैः ॥

refers to a Rāja Rāja. There are three Rāja Rāja's in Cola history and Rāja Rājanarēndra in the History of the Eastern Cālukyas of Vengi. Rāja Rājanarendra of Vengi was the son-in-law of the Cola Rājendra I and was crowned in 1022 A.D., (I. A. XIV p. 50). But he is said to have been ruling even before, in 1018 A.D. and up to 1063 A.D., (cf. *Rāja Rāja Narendra Sanchikā*). Therefore no

* I very much thank Prof. S. Srikanta Sastri for his article on " Vadibha Simha and Vādi Rāja, " but I would like to say that some Jain Scholars do not consider Vadibha Simha as a disciple of Soma Dēva. The reasons for saying so are obvious. Neither Vadibha Simha nor Vādi Raja has ever claimed to be a disciple of Somadēva. The extract from the commentary noted above has not been proved authentic, and unless the location, time and occasion of the said extract are proved to the satisfaction of scholars, and unless it is corroborated by other authentic writings, it is difficult to place faith in it, and accept it as an evidence in the present case.

K. B. Shastri.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

doubt he was the contemporary of the Cōḷās Rāja Rāja 'I and Rājendra I (1012—1015 A. D.) Rāja Rāja I Cola ruled from 985 to 1012 A. D. Satyāśraya Iriva Bedanga defeated Rāja Rāja I. His successors Vikrama V and Ayyaṇa ruled up to 1014 A. D. when Jayaśimha II Jagadēkamalla came to the throne and ruled up to 1042-43 A.D. Jaya simha fought with Bhōja of Mālwa and with the Coḷa Rājendra I from C. 1017 to 1023 A. D. Rāja Rāja II (1176—1182) was a weak ruler who was reinstated before 1183 and after 1171 A.D., on the Coḷa throne by the Hoysala king Vīra Ballāla II and Raja Rāja III (1216—1248) was involved in a civil war with Rājēndra III and imprisoned twice by Kāḍava Perunjinga and released by the Hoysala kings Narasimha III and Somēśvara, Hence it is extremely doubtful whether they can be styled Kṣatra cūḍāmaṇis. It is more probable that Rāja Rāja the Great is referred to.* The Tamil inscriptions mention Kṣhatriya Sikhāmaṇipuram probably named after Rāja Rāja I who seems to have had the title Kṣaṭriya Sikhāmaṇi. In the time of Rāja Rāja I the Buddhist Cūdāmaṇi Vihāra was built at Nāgapatam by Vijayottinga Varma, son of Cūḍāmaṇivarma, (I.A. 7, 22 ;)

(4) The author of *Kṣatra chūdamaṇi* is a Sūri as he tells us in the colophon.

इति श्रीमद्वादीभसिंहसूरिविरचिते क्षत्रचूड़ामणिकाव्ये—

It is usually assumed that he is the same as the author of Gadya Cintāmani. The author of the latter work was the disciple of Puṣpa Sēna and was called Oḍeya dēva. Oḍeya in Kannaḍa means master or Svāmi.† The Malli Sheṇa Praśasti refers to one Puṣpasēna (probably Padma Sēna) after Akalamka and before

* That Rāja Rāja of Vadibha Simgha is Cola I has been accepted by me also in Bhaskar Baga II Kirana 2, but because the late R. Narsimhacharya did not subscribe to this view I had to change my mind. On the authority of Inscription Nos. 37 and 40 of Nagar he has placed Vadibha Simha between the latter half of the 11th century, and the first half of the 12th century.

† The word, ' Deva,' also, means something similar to 'svami', so two words of similar sense could not have been used. I therefore think that Odeya Deva was only another name of Puspa Sena.

K. B. Shastri.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

Vimala Candra. Later on after Śrīpāla traividya it refers to Mati sāgra, Hēmasēna Vidyādhanam jaya and Dayāpāla of Rūpa Siddhi. Matisāgara's disciple was Vādi rāja who praised Śrī Vijaya, the disciple of Hēma Sēna. Then Kamalabhadra, Dayāpāla and Śāntideva are mentioned. Śantidēva was probably Śabda caturmukha who was called " Svāmi " by a Pāṇḍya king and also praised by Āhava malla. Tailapa II (973—997) was called Āhavamalla and so also Somēśvara I who came to the throne in 1044 A D., after Jayasimha. We do not however know whether Sānti dēva Śabda Caturmukha was also known as Odeya (Svāmi ?) and as Vādibha Simha.

Therefore the identity of Puṣpasena must be discussed. The suffix Sēna seems to imply that he belonged to the Sēna gaṇa but it is not the invariable rule. In the Humcha inscription of Nanni Sāntara, the son of Vīra Sāntara and Caṭṭala, dated Ś999 (1077 A.D.) we have :—

Vimala Candra
|
Kanaka sēna (con of Rāchanamalla II ?)

| | | |

Dayāpāla of *Rupa Siddhi* Sāntidēva, | Puṣpasēna Guna Sēna, Ajita Sēna, Śrēyāṁsa. | Vādirāja Dayāpāla, | Śrī Vijaya Kamala bhadra.

E C. 8 *Ng.* 46 dated Ś 1009 (1087 A.D.) refers to Ajita Sēna Vādibha Simha of the Aruṇguḷānvaya. *Sr Bel,* 98 refers to a Puspasēna of Navilur Samgha in c. 700 A. D. The Malli Sēṇa Prasasti however mentions Śripāla Traividya, Mati Sāgara (not Kanaka Sēna) as the guru of Vādirāja. Vādirāja's colleagues were Śri vijaya, the disciple of Hema Sēna (probably identical with Kanaka Sēna) Dayapāla, Kamala bhadra and Śāntidēva. Guṇasēna Paṇdita, Ajita sēna and Śāntinātha and Dayāpāla—the disciples of Ajitasēna, Kumāra Sēna and Malli Shēṇa the disciple of Ajita Sēna. (1128 A. D.) Among these Śantidēva was also worshipped by the Hoysala Vinayāditya II (1047—1100 A. D.) Guṇa sēna was the disciple Puṣpasēna and the guru of the Hoyṣaḷa Ereyanga

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

(1063—1100 A. D.) and the Kongālva Rājēndra (Ś986-A. D. 1064.) Continuing the succession further :—

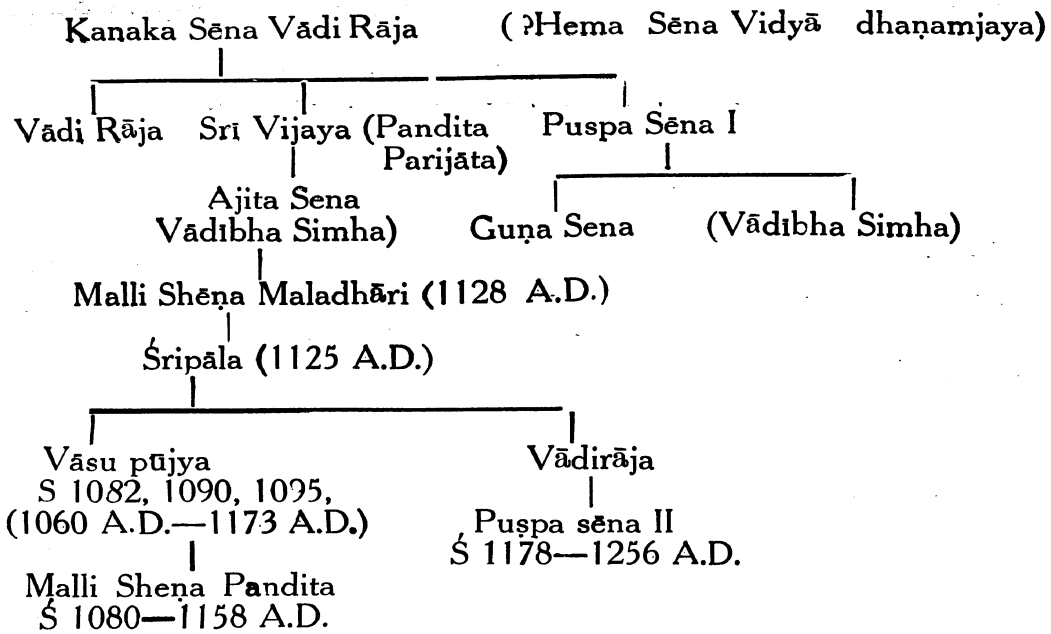

Earlier, there was Kanaka nandi of Muḷḷūr, the contemporary of Nṛpakāma Poysala (1022—27 A.D.) and the guru of the General Ēchiga and Pochikabbe in 1020 A D. Another Kanakanandi Vādi Rāja belonged to the Dēsigaṇa and was the colleague of Śrutakīrti, the disciple of Munichandra (c. 1,105 A. D.), of the Kraṇūr gaṇa Also we find a Kanakasēna of Sēna gaṇa at Muḷgunda in Ś 829 (907 A D.) and Ś 831 (909 A. D.) and he also seems to have had the title Vādirāja. As for the title Vādibha Simha, it is also applied to Śrīpāla Traividya (Vādimattebha Simha) in 1124 A.D., in the Belur inscriptions. His disciples were Vāsupūjya and Vādi Raja as stated above. Regarding Kanaka sēna Vādirāja of Muḷgunda his parampara is given thus :—

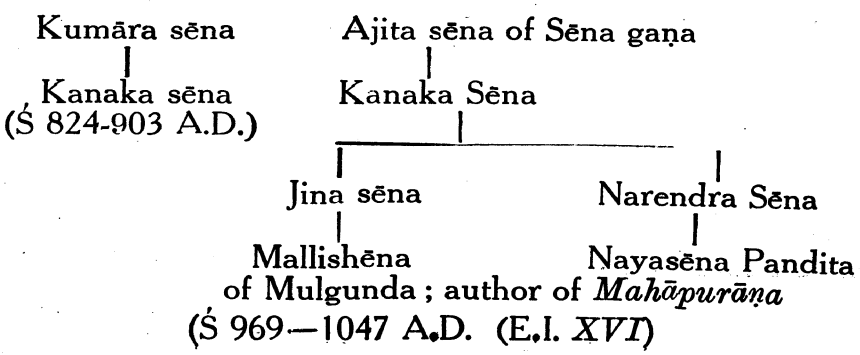

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

Vādibhakaṇṭhīrava was also the title of Guṇacandra, the disciple of Prabhāchandra and the colleague of Māghanandi of Krāṇurgaṇa (E. C. T. Shi, 57). Therefore the titles Vādirāja and Vādibha Simha themselves are no definite guides [1].

5. In the *Gadya cintamaṇi*, Vādibha Simha says.

श्रीमद्वादीभसिंहेन गद्यचिन्तामणिः कृतः।
स्थेयादोड्यदेवेन चिरादास्थानभूषणः॥

It implies that he was the ornament of the court of a king, probably Jayasimha II, because his guru Puṣpasēna (or Padmasēna) was the contemporary of Vādirāja in the Chalukya Kataka of Jayasimha.

6 Pandit K. Bhujabali Śastri thinks that Sōmadēva might have been the Vidyāguru and Puṣpasēna was the Dikṣāguru. Since the *Yaṣastilaka Campu* was written in 959 A D. and Puṣpa sēna is placed in the latter half of the 11th century, Vādibha simha must be assigned a very long life of about a century. As pointed out above the Lākula ascetic Vādi Rudragaṇa is said to have defeated Vādi Rāja, Vādi Gharaṭṭa, and Vādibha simha. In the Tirthahaḷḷi inscription of 1103 A. D. Tribhuvanamalla Sāntara and Caṭṭalā are said to have built a basadi in the name of Ajita sēna Paṇḍita dēva Vādi gharaṭṭa of the Arunguḷanvaya. But the Belagamvi inscription of Vadi Rudragaṇa (Shimoga VII E.C. SK126) of 1035 A.D. as said above mentions Akalamka, Vādi Gharaṭṭa, Mādhavabhaṭṭa, Jñānānanda, Abhaya candra, Vādibha Simha and Vādirāja, implying that Vādigharaṭṭa is a different individual from Vādibha Simha. If this Vādigharaṭṭa Ajita sēna lived from 1035 A.D. to 1103 he must have lived for than 70 years for at the time he disputed with Vādi Rudragana, he must have been at least twenty or thirty years old.*

1. In the *Sumadhva Vijaya* it is said that Madhvacarya defeated in argument two Jainas Buddhi Sāgara and Vādirāja in the 13th Century A.D.

* Along with this other inscriptions should, also, have been studied.

Much light has, however, been thrown on the subject by the learned Professor, and it is desirable that other scholars, too, will pay their attention to this controversial subject.

K. B. Shastri.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

Therefore taking all these facts into consideration, it is safe to say that Vādibha *simha must* have been as a boy the pupil of Somadēva Sūri in 960 A.D., and he lived up to 1035 A.D. in the reigns of Rāja Rāja I and Jayasimha II and was the contemporary of Vādi Rāja, whose Pārsavanātha Charita was completed in 1025 A.D., when Jayasimha was in the camp on the banks of the Kāṭṭagā (Ghaṭaprabha). Sk. 153 dated Ś 960 Bahudhānya (1028 A.D.) also says that one of Jayasimhá's capitals was Ghattada Keṛenēleviḍu.*

* *Journal of Oriental Research.* Vol. XIII Pt. I. *Jainism in Puḍuḳoṭṭah* :— Matisāgara is said to have been the contemporary of Rāja Rāja I.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

Some Inscriptions on Jaina Images.

BY

Prof. A. N. Upadhye, M.A., D. Litt.

In the last few weeks some Jaina images from Karnāṭaka have come to light. They have inscriptions on them at the base, and their rubbings were sent to me for deciphering. Thinking that they might be useful in various ways, I am reproducing those inscriptions here in Devanāgarī characters. My thanks are due to my friend Prof. K. G. Kundangar for some of his valuable suggestions.

(1)

Shriman Sheth Kalappa Annaji Lengade of Shahapur, Belgaum, has with him an image of Pañca Parameṣṭhin. On the space at the bottom of the image, we have the following inscription in three lines in Old-Kannaḍa characters. Some letters are not visible in the prints supplied to me, but I have added them in the square bracket The language is Kannaḍa. The inscription runs thus :—

[1] श्री यापनिय संघद कारेयगणद श्रीधरत्रैविद्यदेव

[2] र शिष्यतियरप्प [बा] गेवाडिय होम्म सिरिकंतियरु श्रुतपंच [मि]

[3] नोंपिय वुच्चवक्के कोट्ट पंचपरमेष्ठिगळ प्रतिमे

The passage means that this image of Pañca Parameṣṭhin was presented at the time of the festivity of Śruta Pañcamī by Homma Sirikanti of Bāgevāḍi (a village near Belgaum). She wss a disciple Śrīdhara Traividya Deva of Kāreya Gaṇa of the Yāpanīya Saṁgha. The hand-writing of the inscription is fairly old. I think that Śrīdhara Traividya Deva mentioned in the inscription is identical with Śrīdhara Traividya Deva of the Yāpanīya Saṁgha and Kāreya Gaṇa mentioned in the Hannikeri Inscription (See Inscriptions in Northern Karnataka and the Kolhapur State by Prof. K. G. Kundangar, Kolhapur 1939, Inscr. No. 22, pp. 163 et seq. and pp. 99

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

et seq.). It glorifies Kanakaprabha, the pupil of Srīdhara Traividya Deva, and it is inscribed in A. D. 1209. Śrīdhara Traividya Deva flourished, therefore, in the last quarter or so of the 12th century A.D.; and that then is the age of this image as well.

(2)

Sheth Kalappa Annaji Lengade has sent another print from an image. It is not fully legible. The characters and language are Old-Kannaḍa. It runs thus in two lines :—

[1] श्री मूलसंधद बळत्कार गणद् सकळ विद्याचक्रव

[2] र्ति श्री श्रुतकीर्ति सिद्धांतदेवर गुड्ड × × × मय

The inscription mentions the name of Śrutakīrti Siddhānta Deva of Balātkāra Gaṇa and Mūla Saṅgha. The name of his pupil is not legible.

(3)

Shetha Kalappa Annaji Lengade of Shahapur has sent the print of an inscription from the image of Pārśvanātha which was recently discovered at Dharwar. I learn that the image measures about three feet in height including the hood; and it is quite attractive in artistic details. The inscription runs thus in four lines :—

[1] स्वस्ति श्रीमतु पुन्नागव्रिक्ष मूलगणद वुभचेगेय बसदिय

[2] कल्याणदेवर शिशिंति चंद्रमतिव्वे सेट्टिय बसदिगे माडिसिद पार्स्वदेव

[3] प्रतिमे कोट्टलि काणि कोंडलि काणि मुद्रापण मूनूरु कम्म एरेय ब

[4] ळिय तोंट सटटुगवत्त सोंटिगेयेण्णे

It is written in Old-Kannaḍa characters, and the anguage also is Kannaḍa. In portions it is not clear. It records the grant of lands, oil etc., for the temple. The donor appears to be Candramativve, the female disciple of Kalyāṇadeva of the temple of Ummacige; and this temple belonged to Punnāga Vṛkṣa Mūla Gaṇa. The appearance of the characters is fairly old, and I think that the image might go back to the 11th or the 12th century A.D.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

(4)

Shriman Sheth Virachand Kodaraji Gandhi, Phaltan, has recently brought an image, from Mishrikoti, Dt. Dharwar, of Pārśvanātha in a standing posture. At the base of it there is a Kannaḍa inscription in Old-Kannaḍa characters, and it runs thus in four lines :—

[1] श्री पंनाग व्रिक्ष मूलगणद ब

[2] सदिय कव्रडेय सोड्डिसेट्टि जि

[3] र्णोद्धारव माडिदं मंगल म

[4] ह्ा श्री श्री श्री .

The inscription tells us that the Jirṇoddhāra was performed by Kavaḍeya Soḍḍi Seṭṭi of the temple or Basadi of Punnāga Vṛkṣa Mūla Gaṇa. It is not clear whether this Jirnoddhāra refers to the temple or to this very image. The characters do not appear to be very old, and probably they might be as old as two to three hundred years.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

"INDIAN CULTURE."

(JOURNAL OF THE INDIAN RESEARCH INSTITUTE)

A high class research quarterly in English on Indology, conducted under the distinguished editorship of Drs. D. R. Bhandirkar, B. M. Barua, B. C. Law, with a strong Advisory Committee, consisting of such eminent orientalists as Sir, Brajendra Nath Seal, Sir D. B Jayatilaka, Drs. S. N. Das Gupta, Laksman Sarup, Radhakumud Mukerjee P. K. Acharya, MMs. Kuppuswami Sastri, Gananath Sen, and others, each of whom represents a particular section of Indian Culture.

It deals with all the branches of Indian Culture-Vedas, Philosophy, Buddhism, Jainism, Zoroastrianism, Ancient Indian Politics and Sociology, Indian Positive Sciences, History, Archaeology, Dravidian Culture, etc. Among the contributors are the best orientalists of India and foreign lands including Drs. Sir B. N. Seal, Sir, A. B. Keith, Drs. Winternitz, Otto Schrader, Otto Stein, R. C. Mazumdar, P. K Acharya, etc.

Indispensable for every lover of Indology. A most attractive get up and printing. Each issue contains about 200 pages. Price very moderately fixed Rs. 6 or Sh. 10 per annum (including postage)

Among the other publications of the Institute, which aims at wide propagation of Ancient Indian Culture and Wisdom by publication of the best products of Ancient Literature under various Series-Vedic, Buddhistic, Jain, etc., are :—

(1) An encyclopaedic edition of the Rigveda with texts, commentaries and translations with elaborate research note in English, Bengali and Hindi,

(2) Gaya and Buddha Gaya, 2 Vols. Rs. 12.

(3) Barhut, 3 Vols. Rs. 18.

(4) Upavana Vinoda (a Sanskrit treatise on Arbori Horticulture), etc., etc., Rs. 2-8.

(5) Vangiya Mahakosa (each part), As. 8.

(6) Books of the Buddhistic Series.

For further particulars, please apply to :

The Hony. General Secretary,
The Indian Research Institute.
170 Maniktala Street.
Calcutta, (India.)

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

RULES.

1. The 'Jaina Antiquary' is an Anglo quarterly, which is issued annually in four parts, *i.e*, in June, September, December and March.

2. The inland subscription is Rs. 4 (including 'Jain Siddhanta Bhaskara') and foreign subscription is 6 shillings (including postage) per annum, payable in advance. Specimen copy will be sent on receipt of Rs. 1-4-0

3. Only the literary and other descent advertisements will be accepted for publication. The rates of charges may be ascertained on application to

THE MANAGER,
The "Jaina Antiquary"
Jaina Siddhanta Bhavana, Arrah (India).

to whom all remittances should be made.

4. Any change of address should also be intimated to him promptly.

5. In case of non-receipt of the journal within a fortnight from the approximate date of publication, the office should be informed at-once.

6. The journal deals with topics relating to Jaina history, geography, art, archæology, iconography, epigraphy, numismatics, religion, literature, philosophy, ethnology, folklore, etc., from the earliest times to the modern period.

7. Contributors are requested to send articles, notes, etc , type-written, and addressed to,

K. P. JAIN, Esq. M. R. A. S.,
EDITOR, "JAINA ANTIQUARY"
Aliganj, Dist. Etah (India).

8. The Editors reserve to themselves the right of accepting or rejecting the whole or portions of the articles, notes, etc.

9. The rejected contributions are not returned to senders if postage is not paid.

10. Two copies of every publication meant for review should be sent to the office of the journal at Arrah (India).

11. The following are the editors of the journal, who work honorarily simply with a view to foster and promote the cause of Jainology :—

DR. B. A. SALETORE M. A , Ph. D.
PROF. HIRALAL JAIN, M.A., L.L.B.
PROF. A. N. UPADHYE, M.A , D.Litt.
B. KAMATA PRASAD JAIN, M.R.A.S.
PT. K. BHUJABALI SHASTRI, VIDYABHUSANA.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

जैन-सिद्धान्त-भवन आरा की प्रकाशित पुस्तकें

(१) मुनिसुव्रतकाव्य (चरित्र) संस्कृत और भाषा-टीका-सहित ... २।)
(मू० कम कर दिया गया है)

(२) ज्ञानप्रदीपिका तथा सामुद्रिक-शास्त्र भाषा-टीका-सहित ... १)

(३) प्रतिमा-लेख-संग्रह ... ... ॥)

(४) जैन-सिद्धान्त-भास्कर, १म भाग की १म, २य तथा ३य किरणें ... २।)

(५) " २य भाग ... ४)

(६) " ३य " ... ४)

(७) " ४र्थ " ... ४)

(८) " ५म " ... ४)

(९) भवन के संगृहीत संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी ग्रन्थों की पुरानी सूची ... ॥)
(यह अर्ध मूल्य है)

(१०) भवन की संगृहित अंग्रेजी पुस्तकों की नयी सूची ... ॥।)

प्राप्ति-स्थान—
जैन-सिद्धान्त-भवन, आरा (बिहार)

PRINTED BY D. K. JAIN, SHREE SARASWATI PRINTING WORKS, LTD., ARRAH.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust